॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीसुरभिग्रन्थमालायाः चर्तुथपुष्पम्

गावो जगन्मातरः

(गोपरक विविध विषयोंका गवेषणापूर्ण तात्त्विक अनुशीलन)

गवेषक

'वेदाद्यनेकविषयाचार्य'

पं. गंगाधर पाठक 'मैथिल'

श्रीधामवृन्दावन

सम्पादक

पं. सुरेश राजपुरोहित, आई.पी.एस.

प्रकाशक

श्रीकामधेनु प्रकाशन समिति

गोधाम महातीर्थ, पथमेड़ा, राजस्थान

परम पूज्य गोऋषि दत्तशरणानन्दजी महाराज का

卐 आशीर्वचन 卐

पञ्च गावः समुत्पन्ना मथ्यमाने महोदधौ ।
तासां मध्ये तु या नन्दा तस्यै देव्यै नमो नमः ॥

वेदवाणी एवं सन्तवाणीके प्रकाशमें जब हम यह जाननेका प्रयास करते हैं कि सृष्टिका मूल क्या है और इस सृष्टिको धारण करनेवाला तत्त्व क्या है? तो स्पष्ट रूपसे एक ही उत्तर मिलता है– 'गोमाता'। गोमाता अपने वात्सल्यसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को सिञ्चित और पोषित करती है । इहलोक व परलोक दोनोंमें पूर्ण कल्याणकी प्राप्तिका मार्ग प्रेमपूर्वक की गयी गोसेवा ही है । गोसेवामें गोसंरक्षण एवं गोसंवर्द्धन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं । गोसेवा तभी सम्भव है जब गोवंशका संरक्षण व संवर्द्धन किया जाय ।

हमारे प्रिय पण्डित श्रीगंगाधरजी पाठककी यह कृति "**गावो जगन्मातरः**" शास्त्रीय सिद्धान्तों व सत्तर्कोंके आधार पर गोमाताकी अवध्यताको स्थापित करनेके उद्देश्यसे ही प्रकट हुई है । वेदादि-शास्त्रवाक्योंका सही अर्थ न समझनेके कारण समाजमें कई भ्रान्तियाँ फैलनेकी सम्भावना है और उसका अनुचित लाभ कई अधर्मी ले भी रहे हैं । ऐसेमें शास्त्रवाक्योंका सही तात्पर्य जनसाधारणके समक्ष रखकर पाठकजीने गोसेवाके क्षेत्रमें एक वन्दनीय कार्य किया है ।
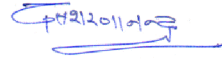
यद्यपि ग्रन्थकी विषय-वस्तु जटिल है पर इसको विद्वान् लेखकने अपनी लेखनीसे सुगम बना दिया है । इससे गोसेवा व गोसंरक्षणसे

सम्बन्धित कई भ्रान्तियोंका निराकरण होगा । गोमाताकी अजस्र कृपा उनपर बनी रहे और वे पाठकजीकी लेखनीमें अपनी शक्ति प्रदान करें जिससे ऐसे और भी अनुपम ग्रन्थरत्न गोमाताकी सेवामें प्रकट होते रहें ।

पाठकवृन्द इस कृतिका भावसे अध्ययन करके प्रेमपूर्वक गोसेवामें लगेंगे, ऐसी मंगलकामना । यह ग्रन्थ निश्चय ही विद्वत्समाज तथा साधारण पाठकोंके बीच पूर्णरूपसे स्वीकृत होगा ।

जय गोमाता जय गोपाल ।

आपका अपना अकिञ्चन

दत्तशरणानन्द

श्रीराम नवमी, विक्रम संवत् **२०७२**
श्रीगोधाम महातीर्थ, पथमेड़ा

(दत्तशरणानन्द)

॥ श्रीसुरभ्यै नमः ॥

परम पूज्य मलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदास देवाचार्यजी महाराज का

卐 आशीर्वचन 卐

' गो-ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम् '

वेद-वेदांगनिष्णात गो-ब्राह्मणोपासक विद्वद्वरेण्य याज्ञिक पं. श्रीगंगाधर पाठकजी सनातन वैदिकपरम्पराके श्रेष्ठ और प्रामाणिक विद्वान् हैं । नित्यसिद्ध अनाद्यपौरुषेय वेदादिशास्त्रप्रतिपादित वर्णाश्रमरूप सनातनधर्मका प्राण यज्ञेश्वरी जगद्धात्री परमपूज्या गोमाता है, इसका संरक्षण-संवर्द्धन सम्पूर्ण वैदिक सनातन-संस्कृतिका संरक्षण-संवर्द्धन है । इसका विनाश सम्पूर्ण संस्कृतिका विनाश है ।

गोवंशसंरक्षण-संवर्द्धनके अनेक प्रकार हैं । उनमें एक श्रेष्ठ सेवा है- गोमाताके वैदिक, शास्त्रीय, प्रामाणिक स्वरूपको प्रतिष्ठापित करनेवाला सत्साहित्यका सृजन । इस दिशामें पूज्या गोमाता श्रीपाठकजीको प्रेरित करके अनवरत महत्त्वपूर्ण सेवा ग्रहण कर रही है । 'गवार्चनप्रयोगः' एवं 'सुरभिस्तोत्रावलिः' आदिके पश्चात् अब ''गावो जगन्मातरः'' का लेखन हुआ और वह अतिशीघ्र पाठकोंके करकञ्जमें पहुँचनेवाला है, यह अत्यन्त प्रसन्नताका विषय है । ''गावो जगन्मातरः'' के द्वारा सभीमें गो-भक्तिकी प्रतिष्ठा हो, ऐसी प्रभुचरणोंमें प्रार्थना है । अतिविशिष्ट 'श्रीसुरभियागपद्धतिः' एवं 'गोवंशमहिमामृतम्' भी शीघ्र प्रकाशमें आये, ऐसी कामना है ।

गो–ऋषि परमभागवत स्वामी श्रीदत्तशरणानन्दजीके सदाश्रयमें ऐसे ही पवित्र कार्य पाठकजीके द्वारा होते रहें, ऐसी गोमाताके चरणोमें प्रार्थना है ।

दासानुदास –

राजेन्द्र दासदेवाचार्य

(राजेन्द्रदास देवाचार्य)

श्रीराम नवमी, विक्रम संवत् २०७२

श्रीमलूकपीठ, श्रीधामवृन्दावन

श्रीसुरभ्यै नमः

सम्पादकीय

अनाद्यपौरुषेय भगवान् वेद ही सनातन धर्मके मूल हैं तथा हमारी सनातन परम्परा में वे ही परमप्रमाणके रूपमें स्वीकृत हैं। विराट्पुरुषके नि:श्वाससे समुद्भूत वेद तथा उनका अनुगमन करनेवाले धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत, पुराण, इतिहास आदि सनातनधर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं। परमात्माके वाङ्मय स्वरूप वेदादि सभी शास्त्रोंमें सर्वत्र गोमहिमाका गुणगान उपलब्ध होता है। भगवती श्रुति **'गावो विश्वस्य मातर:'** कहकर जगद्धात्री गोमाताकी स्तुति करती है। वस्तुत: इस दृष्टिसे देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गोमाताके बिना सनातनधर्मकी कल्पना भी असम्भव है। गोमाता सनातनधर्मकी मूल हैं तथा वे ही इस समस्त ब्रह्माण्डकी जननी एवं अधिष्ठात्री हैं। गोमाता अपने आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन त्रिविध स्वरूपोंसे इस समग्र विश्वको न केवल धारण करती है अपितु उसका परिपालन एवं पोषण भी करती हैं। हमारे ऋषि-मुनियोंने गोमाता एवं उनके पवित्र वंशका महत्त्व समझकर ही यह दिव्य घोष किया है - **'गौर्मे माता ऋषभ: पिता मे'** (गौ मेरी माता है एवं वृषभ मेरे पिता हैं)।

अनादिकालसे इस धर्मप्राण भारतभूमिमें गोमाता सर्वपूज्या रही हैं। ऋषि-मुनियोंके, सन्त-महात्माओंके, धर्मपरायण राजसत्ताके एवं सभी वर्णो एवं आश्रमोंके आबालवृद्ध सर्वसाधारणके हृदयमें गोमाताका स्थान सदासे अद्वितीय रहा है। यथार्थत: गोवंश तथा उनके पवित्र गव्यपदार्थो के बिना

हमारे किसी भी नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य जैसे- पूजन, यजन, तर्पणादिका सम्पादन नहीं हो सकता है। फलस्वरूप, उनकी कृपाके बिना हम ऋणत्रयीसे (देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण) मुक्त भी नहीं हो सकते हैं ।

कालका प्रभाव कहें अथवा कलिका धर्म, इस पावन ऋषिभूमि भारतको विधर्मियों एवं अधर्मियोंसे आक्रान्त होना पड़ा । उनके क्रूरकर्मों एवं अत्याचारोंके बाद भी सनातनधर्मके प्रति यहाँके वासियोंकी आस्था यथावत् सुरक्षित रही, क्योंकि उन्होंने सनातनधर्मके प्राणस्वरूप गोमाताका आश्रय ले रखा था । ऋषियोंकी वाणीपर पूर्ण विश्वास करनेसे एवं शास्त्रोंमें वर्णित गोमहिमाको अपने जीवनमें धारण करनेसे हमारा सनातनधर्म सुरक्षित रहा । जब विधर्मियोंने अपने सभी प्रयास विफल पाये तो उन्होंने सनातनधर्मके मूलपर प्रहार किया । उन अप्रामाणिक व्यक्तियोंकेद्वारा श्रुतिप्रतिपादित धर्मके सिद्धान्तोंका खण्डन करनेकेलिये श्रुतिवाक्योंको तोड़-मरोड़कर भ्रान्तियाँ फैलानेका कुत्सित प्रयास किया गया । केवल विधर्मी ही नहीं, वरन् उनका अन्धानुकरण करनेवाले तथाकथित शिक्षित, आधुनिक दृष्टिकोणसम्पन्न सुधारक अधर्मियोंने भी इस कुकृत्यमें पूर्ण श्रमदान किया है । इस घृणित कार्यमें प्रधानरूपसे जो असत्य उन महाशयोंकेद्वारा फैलाया गया, वह यह था कि गोहत्या वेदादिशास्त्रोंमें प्रतिपादित है । उनके इस दुष्प्रचारसे सनातनधर्मावलम्बी भारतवासियोंमें भी यत्र-तत्र बौद्धिक भ्रान्तियाँ फैलने लगीं । वेदादिशास्त्रोंके सम्यक् आधिकारिक पठन-पाठनकी सनातन-परम्पराओंपर कुठाराघात होनेके कारण साधारण जनमानस दिग्भ्रमित हो गया । शास्त्रोंके अध्ययनके अभावमें वे उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको समझनेमें अक्षम हो गये और विधर्मियों एवं अधर्मियोंकेद्वारा प्रचारित असत्यको स्वीकारने लगे ।

ऐसी विषमवेलामें कई तप:पूत मनीषियोंने ऐसी भ्रान्तियोंका शास्त्रानुमोदित रीतिसे निराकरण किया एवं सनातनधर्मके शाश्वत सिद्धान्तोंको पुनः स्थापित करनेका सत्प्रयास किया । धर्म एवं अधर्मके बीच यह महायुद्ध आज भी यथावत् चल रहा है । विधर्मी एवं अधर्मी तत्त्व वेदादिशास्त्रोंमें वर्णित तथ्योंको तोड़-मरोड़कर सभीको दिग्भ्रमित एवं धर्मच्युत करनेका सतत् दूषितप्रयास कर रहे हैं । इसी महासंग्राममें श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित महनीय गोवंशके अनिर्वचनीय माहात्म्यसे अनुप्राणित पण्डित गंगाधरपाठकजीकेद्वारा प्रणीत यह निबन्धग्रन्थ ''**गावो जगन्मातर:**'' इन सभी भ्रान्तियोंका शास्त्रीय विधिसे निराकरण करनेका वन्दनीय प्रयास है । विद्वान् लेखककेद्वारा इससे पूर्व भी गोवंशकी सेवामें 'गवार्चनप्रयोग:' एवं 'सुरभिस्तोत्रावलि:' आदि प्रामाणिक गोपरक साहित्य प्रस्तुत किये गये हैं ।

गोहत्याको वेदादिशास्त्रसम्मत सिद्ध करनेके घृणित कुप्रयासमें सनातन-धर्मविरोधी शक्तियोंने आजतक कई कुतर्कोंका अवलम्बन लिया है । ग्रन्थकर्ताने अद्यावधि सनातनधर्मविरोधियोंकेद्वारा प्रस्तुत सभी प्रधान तर्कोंका अपने इस निबन्धमें बड़ी सूक्ष्मतासे विवेचन किया है तथा विशुद्ध शास्त्रीय पद्धतिसे उनका निराकरण करके यथार्थ सत्यको प्रकाशित किया है। वेदोंमें जहाँ पवित्र गोमाताको 'अघ्न्या' एवं 'अवध्या' तथा धर्मस्वरूप वृषभको 'अघ्न्य' एवं 'अवध्य' कहा है, उन सर्वपूज्य गोवंशके वधको वेदवाक्योंके भ्रामक अर्थप्रस्तुतिद्वारा सिद्ध करनेका जो दुष्प्रयास हुआ है उसका समुचित शास्त्रीय उत्तर है यह ग्रन्थ । इस महती सेवासे पाठकजीने केवल विद्वानोंको ही नहीं अपितु सनातनधर्मके प्रति आस्था रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको

उपकृत किया है । दुराग्रहरहित सत्यान्वेषणके भावसे जो भी पाठक इस निबन्धको पढ़ेगा, वह निश्चय ही सनातनधर्मविरोधी पाखण्डियोंके षड्यन्त्रको समझ सकेगा । आजकी इस विषमवेलामें– जब गोमाताकी महिमाको भुलाकर उनकी कल्याणकारिणी सेवासे विमुख होकर जनसाधारण दु:खी हो रहा है, ऐसे अद्वितीय ग्रन्थसे अवश्य ही उनको लाभ होगा एवं वे पथभ्रष्ट तथा धर्मभ्रष्ट होने से बचेंगे । सकल शास्त्रोंमें प्रतिपादित गोवंशमहिमापरक श्लोकोंसे सुसज्जित अतिविस्तृत 'गोवंशमहिमामृतम्' एवं 'श्रीसुरभियागपद्धति:' नामक ग्रन्थ भी शीघ्र ही पाठकजीकी लेखनीसे प्रकट होकर गोभक्तोंके हृत्कमलको प्रस्फुटित करेंगे।

सुधी पाठकवृन्द पण्डितप्रवर गंगाधरपाठकजीके इस सत्प्रयासका अवश्य ही लाभ उठायें एवं पूर्ण मनोयोगसे गोमाताकी कल्याणमयी सेवामें तन–मन–धनसे लगें – यही गोमाताके श्रीचरणोंमें सविनय प्रार्थना है । गोमाता विद्वान् लेखक श्रीपाठकजीपर अपनी अनवरत कृपा बरसाती रहें और उनकी लेखनीसे गोसेवा एवं गोमहिमाके प्रतिपादक ग्रन्थरत्नोंका सृजन करवाती रहें ।

भवदीय

अक्षय तृतीया, विक्रम संवत् **२०७२** सुरेश राजपुरोहित, आई.पी.एस.

श्रीगणेशाय नमः　　　　श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः　　　　श्रीसरस्वत्यै नमः

किञ्चिन्निवेदनम्

मिथिलां मैथिलीं रामं याज्ञवल्क्यं विदेहकम् ।
कृष्णं वृन्दावनं गां च नमामि पितरौ गुरुम् ॥

वेदादिशास्त्रोंके अनुसार धर्मप्रधान भारतवर्षको पुण्यभूमि, कर्मभूमि या यज्ञभूमि भी कहा जाता है । इन सभी महनीय अभिधानोंके मूलमें पूज्य गोवंश, शास्त्रज्ञाननिष्ठ सदाचारसम्पन्न ब्राह्मण और सनातनधर्मके प्रति पवित्रतम भाव रखनेवाले अन्य महानुभाव ही प्रतिष्ठित हैं । श्रुति-स्मृतिसे सम्पादित होनेवाले यज्ञीय कर्मोंमें गोदुग्धादि गव्यपदार्थ ही हविर्द्रव्यके रूपमें परिगृहीत हैं । इसीलिये गौको हविर्धानी या होमधेनु कहा जाता है । हमारेलिये यज्ञार्थ गोदोहन एवं होम-देवार्चनादिके पश्चात् ही गोदुग्धादिको ग्रहण करनेका विधान उपलब्ध होता है । गोसेवा तथा गव्यपदार्थसे परिपुष्ट अन्तःकरणमें ही वेदादिशास्त्र प्रतिष्ठित होते हैं, ''**गोषु वेदाः प्रतिष्ठिताः**''का यही रहस्य है । गव्यपदार्थसे विहीन मस्तिष्कमें शास्त्र-पुराणादिकी अप्रतिष्ठाके कारण गो-ब्राह्मणादिके प्रति शास्त्रीय धार्मिक बुद्धिका प्राकट्य असम्भव है । वे श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते ।

यद्यपि धर्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है तथापि अनाद्यपौरुषेय वेदादिशास्त्रोंकेद्वारा मनीषि-ब्राह्मणोंके अन्तःकरणमें उसका साक्षात्कार होता ही है । अतीत, वर्तमान और भविष्यमें प्रकट होनेवाली संसारकी सभी विद्याओंका मूलस्रोत वेदादिशास्त्रोंमें सुप्रतिष्ठित है- ''**यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सर्वमत्र(वेदे) प्रतिष्ठितम्**'' (वाजसनेयिप्रातिशाख्य८।२६, याज्ञवल्क्यशिक्षा उत्तरार्ध११४) । व्यापक दृष्टिसे वेदादिशास्त्रोंका तपोजन्य पारम्परिक स्वाध्याय ही उन सभी गूढ़तम विद्याओंके रहस्यको प्रकाशित कर सकता है । अत्यन्त पुरातनकालसे अखण्ड भारतवर्षमें गौ, सदाचारी ब्राह्मण और सनातनधर्मनिष्ठ महापुरुषोंकी प्रतिष्ठा रही है । गोवंशकी

कृपासे ब्राह्मणोंने वेदादिशास्त्रोंके गुह्यतम रहस्योंको हृदयंगम करके शुद्ध गव्यपदार्थसे श्रौत-स्मार्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते-कराते हुए पुण्यभूमि भारतवर्षकी आध्यात्मिक शक्तिका संवर्द्धन किया है, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्वके सहृदय चिन्तनशील विचारकोंने इस धर्मप्राण प्रणम्य राष्ट्रको **'जगद्गुरु'** जैसी सर्वोत्कृष्ट सम्मानित उपाधिसे समलंकृत करके अपनेको धन्य माना और इसका शिष्यत्व स्वीकार किया। इसीलिये तो मनुस्मृति (२।२०)की उद्घोषणा है-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इस देशमें जन्मे हुए ब्राह्मणोंके सान्निध्यसे पृथ्वीके सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्रके निर्माणकी शिक्षा ग्रहण करें। परन्तु वर्तमानमें गोवंशका संक्रमण, उनकी उपेक्षा एवं वेदादिशास्त्रोंके ज्ञान तथा सदाचारसे विहीन व्यवस्थाकेद्वारा भारतवर्षका महनीय जगद्गुरुवैभव प्रायः नष्ट कर दिया गया है, यह बहुत दुःखद है। सनातनसंविधानसे विहीन और धर्मसे अनियन्त्रित अशास्त्रीय शासनतन्त्र धर्मप्राण भारत जैसे राष्ट्रकी दुर्गतिमें सबसे बड़ा कारण है, क्योंकि- **''शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते''** जिस धर्मको राज्याश्रय प्राप्त होगा वही पल्लवित, पुष्पित और प्रतिफलित हो सकता है। पुनः जिस सभ्यता-संस्कृतिकी रक्षाकेलिये गो-ब्राह्मणभक्त श्रीराम-कृष्णादिको भी अवतार ग्रहण करना पड़ता है, उसी हिन्दुस्थानमें हिन्दुओंके मानदण्ड गौ, ब्राह्मण और वेदादिशास्त्रोंके संरक्षणकेद्वारा प्राणिमात्रकी रक्षाकेलिये शासकीय सत्प्रयास न किया जाय तो इसकी अपेक्षा और कहाँसे करें ? आज तो तथाकथित बहुसंख्यक गृहस्थ शास्त्रोपदेशक और कर्मकाण्डी ब्राह्मण भी यथोचित शिखा-यज्ञोपवीत धारण करनेमें, तिलक लगानेमें और लाँग लगाकर धौतवस्त्र धारण करनेमें लज्जा अथवा इन्हीं अशास्त्रीय कृत्योंका सम्पादन करके गौरवका अनुभव करते हैं, वे गो-ब्राह्मण एवं पवित्र सनातन-संविधानके संरक्षण-संवर्द्धनकेद्वारा समाज या संसारका भला कैसे कर सकते हैं ? गौ आदिके अलौकिक माहात्म्यका प्रतिपादन तो वेदादिशास्त्रोंसे ही सम्भव है। गव्यपदार्थसे

समुत्पन्न निर्दुष्ट आध्यात्मिक महाशक्ति ही हमारे राष्ट्रको पुनः उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर सकती है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी साधन पूर्ण सफल नहीं हो सकते ।

हमारी सुव्यवस्थित सभ्यता–संस्कृतिमें पाश्चात्योंकी सभ्यता–संस्कृतिका सम्मिश्रण हमें गहरे गर्त्तमें डाल देगा, जिससे ऊपर होकर हम अपने सिरको कभी ऊँचा नहीं उठा सकते । अभी भी कुछ सम्भावनायें बाँकी हैं, जहाँ हमारा सत्प्रयत्न निश्चय ही हमें सफलता प्रदान कर सकता है । **''गावः प्रतिष्ठा भूतानाम्''**के अनुसार केवल भारतीयोंकी ही नहीं अपितु विश्वके सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी प्रतिष्ठा गोवंश है और हम सभी विश्वमाता गौकी प्रतिष्ठासे स्वयं भी पुनः प्रतिष्ठित हो सकते हैं ।

वेदादिशास्त्रोंमें पूर्ण प्रतिष्ठाको प्राप्त सर्वश्रेयस्करी जगन्माता गौकेलिये संसारके कोई भी दो पैरवाले जन्तु उन्हीं वेदादिशास्त्रोंसे उनका वध सिद्ध करे यह कितना दु:खद और आश्चर्यजनक है ?

इन्हीं उपद्रवोंसे गोभक्तोंका सन्तप्त हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठा और राष्ट्रकी उन्नति एवं सम्पूर्ण विश्वमें शान्ति–स्थापनाकेलिये गोसेवार्थ प्राणधारण करनेवाले कतिपय महापुरुषोंकी आशीर्वादात्मक सत्प्रेरणासे प्रेरित होकर इस ग्रन्थमें वेदादिशास्त्रोंके द्वारा गोवध सिद्ध करनेवाले गोविरोधी एवं राष्ट्रद्रोही दुर्विचारोंका शास्त्रीय रीतिसे समालोचन करके गोवंशको अवध्य और सर्वपूज्य सिद्ध किया गया है ।

यद्यपि **'गावो जगन्मातरः'**के निबन्धोंको अत्यन्त विस्तृत करनेकी इच्छा थी तथापि वर्तमानमें गोमाताकी कृपासे जो स्वरूप प्रकट हुआ है, इसका सम्यक् मनन–चिन्तन करनेके पश्चात् प्रायः गोविरोधी समस्त आक्षेपोंका समाधान करके गोवंशकी सर्वपूज्यता सिद्ध कर दी जायगी, ऐसा विश्वास है । कालान्तरमें इसी

लघु निबन्धग्रन्थसे गोसेवाकेलिये सहस्रों पृष्ठ अवतरित हो सकते हैं । शास्त्रानुरागी गोभक्त अवश्य ही ऐसा सत्प्रयास करेंगे ।

इस ग्रन्थकी प्रामाणिक सामग्रियोंको मैंने जहाँ-जहाँसे प्राप्त किया उनका वन्दनीय स्मरण तत्तत्स्थलों में ही अत्यन्त सम्मानपूर्वक किया है । सनातन परम्पराको परिपुष्ट बनानेवाला ऐसा कोई भी पक्ष शेष नहीं बचा है, जिसका सांगोपांग विश्लेषण पूर्वाचार्योंने नहीं किया हो, मैंने भी उन्हींका प्रसाद गोभक्तोंकेलिये केवल सामान्यतया परोसनेका काम किया है । सहृदय गोभक्त इस प्रसादको श्रद्धापूर्वक अनुगृहीत कर गोवंशकी साहित्यिक सेवासे लाभ लेंगे तो मेरा उत्साहवर्द्धन होनेके साथ ही गोवंशकी प्रतिष्ठा और आपके गोभक्तियुक्त हार्दिक आशीर्वादसे गोसेवार्थ महत्त्वपूर्ण साहित्यका संवर्द्धन और प्राकट्य होता रहेगा ।

इस **'गावो जगन्मातरः'**के लेखनमें तो मूलकृपा गोमाताकी है ही, पुनः गोमाताके लोकोत्तर रहस्यका साक्षात्कार करनेवाले महापुरुष परमपूज्य गोऋषि स्वामी श्रीदत्तशरणानन्दजी महाराज (गोधाम महातीर्थ पथमेड़ा) एवं गोभक्त श्रीराजेन्द्रदास देवाचार्यजी महाराज (मलूकपीठाधीश्वर, श्रीधामवृन्दावन)का सर्वतोभावेन अभूतपूर्व योगदान रहा है, जिनकी प्रशंसामें मेरी लेखनी सक्षम नहीं हो पा रही है । प्रकृत ग्रन्थमें इन दोनों सहृदय महापुरुषोंके प्रेरणाप्रद आशीर्वचनसे मैं तो यही विश्वास करता हूँ कि निश्चय ही गोमाताने इस नैवेद्यको अपनी वात्सल्यमयी स्वीकृति प्रदान कर दी है ।

गोवंश और शास्त्रोंके प्रति अतिशय निष्ठा रखनेवाले मेरे सम्मान्य सुहृद्वर पं.श्रीसुरेशजी राजपुरोहित(आइ.पी.एस.)ने गोमाताके इस वाङ्मय विग्रहको अपने सम्पादकीय सद्विचाररूपी विशिष्टतम आभूषणोंसे अलंकृत करके इसका विधिवत् श्रृंगार कर दिया है । सभी गोभक्तोंसे संयुक्त इन तीनों महानुभावोंने मनसा-वाचा-कर्मणा गोवंशकी साहित्यिक सेवाकेलिये सदैव ही मेरा उत्साहवर्द्धन किया है, मैं तो इनका ऋणी हूँ ही, गोमाता भी अपने स्नेह-रससे इन्हें सिञ्चित करती रहेगी यह ध्रुव है ।

यद्यपि नहीं चाहते हुए भी मेरे कुछ कुटुम्बिजनोंके अविवेकपूर्ण व्यवहारके कारण मेरी साहित्यिक सेवा और बौद्धिक चिन्तनमें महीनोंका व्यवधान उत्पन्न हो जाया करता है । तथापि माताजी एवं करुणामयी गोमाताकी कृपासे शास्त्रीय सन्दर्भोंके अन्वेषण तथा संकलनमें मेरी धर्मपत्नी, मेरी सुपुत्री एवं मेरे दोनों चि. आत्मजोंका यथाधिकार यथोचित सहयोग प्राप्त होता रहता है । गोमाता अपनी सेवाकेलिये इनको और अधिक सन्मति प्रदान करें ।

इस ग्रन्थके संयोजनमें जिन महनीय लेखकों, विचारकों या गोभक्तोंका किञ्चिन्मात्र भी सहयोग लिया गया है, मैं उनका हृदयसे आभार प्रकट करता हूँ । गोमाता मुद्रक, सम्पादक, प्रकाशक, पाठक, लेखक एवं समस्त गोभक्तोंका परम कल्याण करें, ऐसी प्रार्थना है । गोभक्तोंकेद्वारा इस ग्रन्थका विधिवत् अध्ययन और अधिकाधिक गोसेवा ही लेखकके परिश्रमका समुचित मूल्य होगा ।

मैं पुनः सभी सम्माननीय गोभक्तोंका सादर अभिवन्दन करते हुए आपसे प्रणत याचना करता हूँ कि ''**गोष्वखण्डा भक्तिर्भवतात्**'' गोमाताके सर्ववन्द्य पावन चरणोंमें मेरी भी अविरत प्रीति हो, ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें ।

।। शुभानि सन्तु ।।

गंगादशहरा, वि.सं. २०७२ — गोभक्तानामनुचरः

श्रीधामवृन्दावन — पं.गंगाधर पाठक 'मैथिल'

अनुक्रमणिका

१

वेदादिशास्त्रोंके अनुसार अनादिकालसे गोवंश सर्वपूज्य है

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (मनुस्मृति) एवं **'गोषु वेदाः प्रतिष्ठिताः'** आदिके अनुसार वेदभगवान् ही सनातनधर्मावलम्बियोंकेलिये सर्वतोभावेन परमप्रमाण हैं और स्वयं वेदभगवान् गोवंशमें प्रतिष्ठित हैं । शास्त्रोंके अनुसार प्राणधारण करनेवाले आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सभी प्राणिमात्र सनातनधर्मी ही सिद्ध होते हैं **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (श्रीगीता), परन्तु कालचक्रके कुप्रपञ्चसे मोहग्रस्त होकर नानापन्थोंमें भ्रमण करते हुए जो जीव अपने इस दुष्प्राप्य भारतवर्षके मानवशरीरका भी पर्यवसान कर डालते हैं, वे अतिशय दुःखके विषय हैं ।

यद्यपि श्रीमद्भागवतादिकी भौगौलिक सीमाका अवलोकन करनेसे वर्त्तमानकी सम्पूर्ण पृथ्वी ही भारतवर्ष सिद्ध हो जायगी । परन्तु एक ही कुलके द्विधाविभक्त गौ और ब्राह्मणसे क्षत्रियादिके दूर हो जानेके कारण इस विखण्डित भारतसे इतर स्थानोंमें वैदिक–सनातन–संस्कार क्षीण होता चला गया, वे वृषलत्वको (वृषं गोवंशं लूनाति छिनत्ति इति वृषलः) प्राप्त होते गये । मनुके अनुसार –

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥

इधर वेद–शास्त्रोंके ज्ञानसे विहीन ब्राह्मणोंकी भी वैदिक मर्यादाओंके प्रति शिथिलता होनेके कारण सनातनधर्म किंवा भारतीयसंस्कृतिको बहुत बड़ी क्षति हुई । पण्डितप्रवर उदयनाचार्यने भी ऐसा ही कहा है–

जन्म-संस्कार-विद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥

अतः अतिशय भयंकर परिणामसे सुरक्षित रहनेकेलिये इसकी सम्पूर्तिका प्रयास करना समस्त सनातनधर्मावलम्बी सत्पुरुषोंका परम कर्तव्य है ।

जिनके पूर्वज महाराज दिलीप एवं श्रीराम-कृष्णादिने '**विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार**' इन पवित्र कार्योंको ही अपना श्रेष्ठ कर्तव्य और क्षात्रधर्मका आधार माना । वही कालान्तरमें अपने कर्तव्योंके प्रति कुण्ठाका भाव आ जानेके कारण अत्यन्त प्राचीनकालसे गो-ब्राह्मणसेवी धर्मशील क्षत्रियोंके हाथमें रही धर्मनियन्त्रित सत्ता भी छिन गयी, ईश्वरीय संविधानकी उपेक्षा होने लगी । परिणामतः सर्वत्र भय और अशान्तिका साम्राज्य स्थापित हो गया । इतना ही नहीं, जगद्गुरुवैभव जैसे उच्चपदको प्राप्त कर चुका धर्मप्राण भारतवर्ष जैसा अभिवन्दनीय राष्ट्र भी इससे अछूता नहीं रहा, जो अत्यन्त चिन्ताका विषय है । यदि अभी भी वैदिक-मर्यादाको स्थापित करनेवाले गौ-ब्राह्मणके माध्यमसे शास्त्रोंके समुत्थानका सफल प्रयास नहीं हुआ तो वह दिन दूर नहीं जब हम अपने गौरव (गौका रव-गौकी ध्वनि)को खो चुके होंगे । अतः स्वराष्ट्रको तथा पुनः सम्पूर्ण विश्वको समुन्नत बनानेकेलिये पवित्र भारतीय-गोवंशका संरक्षण-संवर्द्धन ही सर्वप्रथम अनिवार्य साधन है । मूलतः गौके सभी शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त भारतीय-गोवंशके संवर्द्धनसे ही विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, अलुब्ध और दानशील स्थापित हो सकते हैं । स्कन्दपुराणके अनुसार ये ही पृथ्वीका धारण-पोषण करनेवाले हैं-

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः ।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ॥(स्कन्दपुराण)

वेद, स्मृति, तन्त्र एवं पुराणादि सनातन-शास्त्रोंका अनुशीलन करनेसे गौकी पूज्यता एवं अवध्यता स्पष्ट हो जाती है । अत्यन्त पीड़ा तो तब होती है जब वेदार्थ-परम्परासे सर्वथा अनभिज्ञ कुछ वैदिकम्मन्य अदूरदर्शी सुधारकगण महाशय वेद-शास्त्रोंका कपोलकल्पित अर्थ करके आस्थावान् शान्त सनातनसमाजमें भी अशास्त्रीय बौद्धिक आतंक फैलानेका कुप्रयास किया करते हैं । वस्तुतः किसी

महनीय ब्रह्मविद्वरिष्ठ गुरुमुखका आश्रय लिये बिना अनाद्यपौरुषेय वेदादि-शास्त्रोंका अपारम्परिक अनर्थ ही तो होगा-

यदृच्छया श्रुतो मन्त्रश्छन्नेनाऽथ छलेन वा ।
पत्रेक्षितो वा व्यर्थः स्यात्प्रत्युतानर्थदो भवेत् ।। (श्रुतप्रकाशिका)

वे अपने विचारानुसार शास्त्रोंमें जोड़-तोड़का भी आपराधिक प्रयत्न कर बैठते हैं और शास्त्ररूपी परमात्माको अधिकांग या हीनांग बनानेमें ही अपने पाण्डित्यका विनियोग कर लेते हैं, यह अत्यन्त गलत परम्परा है-

शास्त्रे न योजयेत्किञ्चिन्न किञ्चित्खण्डयेन्नरः।
हरेः शरीरवैकल्याज्जायते धर्मसंक्षयः ।। (गोवंशमहिमामृतम्)

क्योंकि-

प्रायेण पूर्वभागार्थः धर्मशास्त्रेण कथ्यते।
इतिहास-पुराणाभ्यां वेदान्तार्थः प्रकाशितः ।।

लक्षकण्डिकावाले मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदोंके पूर्वमीमांसा भागका यथार्थ निर्णय प्रायः धर्मशास्त्रकेद्वारा ही सिद्ध होता है, इसी प्रकार इतिहास-पुराणादिके द्वारा उत्तरमीमांसा-वेदान्तके अर्थोंका प्रकाशन होता है । वेदव्याख्यानरूपसे सभी शास्त्रोंका प्रयोजन धर्म और ब्रह्मका विशिष्ट निर्णय करनेमें ही है ।

तस्माद्वेदः सदा रक्ष्यो धर्मब्रह्मविनिर्णये ।
वेदव्याख्यानरूपेण सर्वशास्त्रप्रयोजनम् ।। (गोवंशमहिमामृतम्)

इसलिये मानवीय बुद्धि तो अकुण्ठ ईश्वरीय संविधान वेदादिशास्त्रोंको समझनेका ही प्रयास करे और तदनुकूल आचरण करके उसे समाजमें स्थापित भी करनेकी तत्परता दिखाये । सूतसंहितामें भगवान् शिव कहते हैं -

स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः ।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत् ।।

यश्च स्थापयितुं शक्तो नैव कुर्याद्विमोहितः ।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः ॥

अल्पज्ञताके कारण मानवीय बुद्धिमें अनन्तानन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तानन्त प्राणियोंके योग-क्षेमका चिन्तन असम्भव है, पुनः कुटिलभावसे निर्मित शास्त्रसिद्धान्तविहीन मानवीय संविधानसे धर्मप्रधान भारतवर्ष जैसे राष्ट्रका नेतृत्व करके भला इसे समुन्नत भी कैसे बनाया जा सकता है? इसकेलिये सर्वज्ञ ईश्वरका संविधान वेदशास्त्र ही संसारके असंख्य प्राणियोंका सच्चा पथप्रदर्शक और परमहितैषी है, इससे अतिरिक्त अन्य सभी साधन अकिञ्चित्कर ही सिद्ध होंगे ।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥

ऐसे संकेतोंसे सावधान होकर भगवद्विग्रहस्वरूप शास्त्रके प्रत्येक अंगको प्रमाण मानकर सनातनधर्मकी रक्षामें तत्पर रहना चाहिये । वास्तवमें भारतवर्ष जैसे महान् राष्ट्रपर शासन करनेका अक्षुण्ण मौलिक अधिकार भी उन्हींको है जिन्होंने राष्ट्रहितकेलिये पवित्र भावसे वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, रामायण और महाभारत आदि रहस्यपूर्ण महनीय शास्त्रोंका गहनतासे पारम्परिक सच्चिन्तन-मनन किया है, वही लोकोत्तर गुणोंसे युक्त उदात्त शासक गौ, ब्राह्मण और वेद आदिका संरक्षण-संवर्द्धन करके राष्ट्रके विलुप्त जगद्गुरुवैभवपदको पुनः स्थापित कर सकता है । श्रीमद्भागवतमहापुराणमें भी स्पष्टतः यही निर्णय दिया गया है-

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

इसके अतिरिक्त जो अव्यवस्थित राजा सच्ची मन्त्रणा देनेवाले राष्ट्रहितैषी व्यक्तियोंके गोवंश-संवर्द्धनादि विचारोंका श्रवण करके भी उसमें तत्पर नहीं होता, वास्तवमें वह राजाके रूपमें दस्यु (डाकू) है एवं प्रजाओंके धन और धर्मका अपहरण करनेवाला है । शुक्रनीतिशास्त्रमें ऐसा ही कहा है-

हिताहितं न श्रृणुते राजा मन्त्रिमुखाच्च यः ।
स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः ॥

इसलिये शास्त्रज्ञानसम्पन्न धर्मनियन्त्रित यथार्थवादी व्यक्तियोंके सद्विचारोंका सम्मान करना शासकोंका परमकर्तव्य होता है ।

धर्मज्ञ राजाको चाहिये कि वह जातिधर्मों, देशधर्मों, वणिक् आदि श्रेणिधर्मों एवं कुलोंके धर्मोंकी (रीतियों, नियमों या विधियोंकी) जानकारी सावधानीसे करे और उन्हें उन विशिष्ट स्थानोंमें व्यवस्थित करे । शिष्टों (सद्व्यक्तियों) एवं धर्मज्ञ द्विजोंकेद्वारा प्रयुक्त जो धर्माचरण हैं उन्हें राजाकेद्वारा संवैधानिक नियमके रूपमें प्रतिष्ठित करना चाहिये, सर्वथा यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि वह संविधान जनपदों, कुलों एवं जातियोंकी शास्त्रीय परम्पराओंके विरुद्ध न हो–

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥(मनुस्मृति-८।४१)
सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥(मनुस्मृति-८।४६)

रामराज्यमें धर्मतत्त्वको जाननेवाले वसिष्ठादिसे नियन्त्रित भगवान् श्रीरामकी राजसत्ता थी इसलिये–

दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज्य नहिं काहुहि ब्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥
राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी । सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं ।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।।

का सर्वत्र पूर्णरूपेण प्रभाव था ।

राजनीतिके महापण्डित भगवान् श्रीकृष्णने भी सम्पूर्ण व्यवस्थाकेलिये शास्त्रको ही परमप्रमाण मानने की आज्ञा दी है– **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** (भगवद्गीता), **'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ'** (मनुस्मृति) आदि अनेकों पथप्रदर्शक वाक्य प्रतिक्षण हमें सावधान करते रहते हैं । धर्मशास्त्रीय विधिवाक्योंसे ही वेदोक्त कर्तव्याकर्तव्योंका निर्णय प्रमाणके रूपमें स्वीकृत होता है, न कि कोई कथानक, इतिहास या घटनायें । कथानक, इतिहास या घटनायें प्रायः वर–शापमूलक, राग–द्वेषमूलक अथवा तत्सम्बन्धी व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति या तत्कालीन परिस्थितियोंके अनुसार भी हुआ करती हैं । प्रायः आधुनिक अयथार्थ लेखक लोभ–मोहवश किसीके माहात्म्यका वर्णन करनेमें अपने सम्पूर्ण सामर्थ्यका प्रयोग कर लेना चाहते हैं । इसलिये **'बाबावाक्यं प्रमाणम्'** से धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदायोंकी रक्षा नहीं हो सकती । यदि इन कथानक आदि बाबावाक्योंको धर्मशास्त्रीय विधिवाक्योंका समर्थन प्राप्त हो रहा है तो इनकी भी प्रामाणिकता मान्य होती है । धर्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है, वेदादिशास्त्रोंकेद्वारा ही यथाधिकार इसके स्वरूपका यथार्थ निर्णय होता है, इसलिये **'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** यही अकुण्ठ सिद्धान्त है । सामूहिकरूपसे सभी धार्मिक सम्प्रदायवादियोंकेद्वारा धर्मबुद्ध्या स्वसम्प्रदायातिरिक्त सनातनधर्मके मूलसिद्धान्तोंका संरक्षण एवं लोकमें उसकी स्थापनाका सत्प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि वर्णाश्रमानुसारी श्रौत–स्मार्तधर्मोंके सदाचरणसे ही अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक परमसिद्धिकी प्राप्ति की जा सकती है । श्रीमद्भागवतका (११।४।४५) भी कहना है–

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ।।

अर्थात् जो प्राणी अधिकारी होकर भी वेदोक्त कर्मोंका आचरण नहीं करता, वह अज्ञ एवं अजितेन्द्रिय रहते हुए विकर्म तथा अधर्मका शिकार होकर बार-बार मृत्यु अथवा असफलताको ही प्राप्त होता रहता है । इसलिये शास्त्रोंमें प्रतिपादित गोवंशादिकी अचिन्त्य महिमाको जानकर एवं उनका सम्मान करते हुए ही सनातन-धर्ममूलके संरक्षण-संवर्द्धन जैसे पवित्र कार्योंमें सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

वेदमें गौकी बहुत महिमा बतायी गयी है । गौकी उत्पत्ति भी इसकी महिमाकी कम अभिव्यञ्जक नहीं है । तैत्तिरीय ब्राह्मणमें एक आख्यायिका आती है- 'ब्रह्माजीने प्रजाकी सृष्टिमें अपनी सारी शक्ति लगा दी । अब वे अपनेको अशक्त पा रहे थे । प्रजाओंके भरण-पोषण आदिकी समस्या उनके सामने खड़ी थी । इसके लिये उन्होंने फिर तपस्या प्रारम्भ कर दी । इसबार ब्रह्माजीकी इस तपश्चर्यासे इतनी शक्ति उमड़ी कि उसका धारण कर पाना उनके लिये कठिन हो गया । अन्तमें वह असीम शक्ति उनके देहसे बाहर निकलकर गौके रूपमें परिणत हो गयी । वह इतनी मनोरम थी कि उसे लेनेकेलिये सभी देवता लालायित हो गये ।' (तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।१०)

इस आख्यायिकासे व्यक्त होता है कि प्रजाओंके भरण-पोषणकेलिये गौका आविर्भाव हुआ । इसके दूध, दही और घीसे देवता, पितर और मनुष्योंका आहार मिलने लगा और इसके गोमय तथा गोमूत्रसे अन्नकी उत्पादनक्षमता बढ़ गयी । इस प्रकार गौसे विश्वभरका कल्याण हो गया । इसीलिये वेदने गौको विश्वरूप और सर्वरूप भी कहा है- **'एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ।'**

वेदमें बताया गया है कि गौकी पूजा करनेसे ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है । तैत्तिरीयब्राह्मणमें एक अन्य आख्यायिका भी आती है- 'एकबार ब्रह्माजीने अचेतन जगत्की सृष्टि कर दी थी । इसके बाद वे चाहते थे कि जीवात्मासे युक्त चेतन वस्तु उत्पन्न हो, इसी कामनासे उन्होंने होम किया । उस होमसे अग्नि, वायु और आदित्यरूप तीन चेतनदेवता उत्पन्न हुए । इन तीनों देवताओंने भी चेतनजगत्के विस्तारकेलिये होम किया । उन तीनोंके होम करनेके

बाद एक गौ उत्पन्न हुई– **'तेषाँ हुतादजायत गौरेव'** (तैत्तिरीयब्राह्मण **२।१।६**)। उसे देखकर तीनों देवताओंने उसे प्राप्त करना चाहा। प्रत्येकका कहना था कि मेरे होमसे यह गौ उत्पन्न हुई है, इसलिये यह मेरी है। निर्णयकेलिये तीनों देवता ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने उनसे पूछा कि आप तीनोंमेंसे किसने किस देवताको आहुति दी? अग्निदेवताने बताया कि मैंने प्राणदेवताकेलिये आहुति दी। वायुदेवताने शरीराभिमानी देवताको और आदित्यने नेत्राभिमानी देवताको आहुति देनेकी बात कही। तब प्रजापतिने निर्णय लिया कि शरीर और चक्षुः प्राणके अधीन हैं, इनमें प्राण ही मुख्य है, इसलिये प्राणदेवताके होमसे ही गौ उत्पन्न हुई और वह गौ अग्निको समर्पित कर दी गयी। तभीसे गौ का नाम 'अग्निहोत्र' पड़ गया। **'गौर्वा अग्निहोत्रम्'** (तैत्तिरीयब्राह्मण **३।१।६**)। इसके बाद इसी श्रुतिने बताया है कि इस अग्निहोत्री धेनुकी जो पूजा करता है, वह इस लोकमें अभ्युदय तो प्राप्त करता ही है, मरनेके बाद भी उसे स्वर्गलोककी ही प्राप्ति होती है–

'तृप्यति प्रजया पशुभिः। प्र सुवर्गं लोकं जानाति। पश्यति पुत्रम्। पश्यति पौत्रम्।' (३।१।८) **'देहपातादूर्ध्वं स्वर्गं प्रजानाति। ततः पूर्वं दीर्घायुष्येण युक्तः पुत्रं पौत्रं च पश्यति।'** (सायणभाष्य)

वेदके इस प्रमाणसे स्पष्ट हो जाता है कि पूज्यवर्गमें जो दैवीशक्तिकी धारा बहती रही है, उससे पूजक तो प्रकाशित हो ही जाता है, किन्तु अनास्थारूपी तिमिररोग लग जानेसे अपौरुषेय वेदके इस दिव्यातिदिव्य प्रकाशको मनुष्य देख नहीं पाता।

'एतदर्थ शास्त्रीय ज्ञानसे हीन दूषित अन्तःकरणवाले ऐसा दुष्प्रचार किया करते हैं कि प्राचीन भारतमें गोमांसका भक्षण वैध था, ऋषिलोग यज्ञ-यागादिमें एवं दैनिक क्षुधानिवृत्तिकेलिये भी इसका उपयोग करते थे।'

यह कुटिलविचार तैंतीसकोटि देवताओंकी आश्रयस्थली गोमाताके प्रति भयंकर अपराध ही सिद्ध करता है। इससे राष्ट्रकी बहुत बड़ी क्षति होगी, जिसकी पूर्ति किसी भी अन्य साधनसे सम्भव नहीं हो सकती।

'आजकल शास्त्रीय पुरातन मर्यादाओंका उल्लंघन करना, उनका उपहास उड़ाना एक गौरवकी वस्तु समझा जा रहा है । विज्ञानसिद्ध जन्मना वर्णाश्रमका विरोध करना, शास्त्रोंकी बातोंका मखौल उड़ाना प्रगतिसूचक मान लिया गया है । सकल सच्छास्त्रोंके मर्मज्ञ तथा सर्वभूतहृदय धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजसदृश महापुरुषोंने (जिन्होंने स्वतपोबलसे गोवंशसंवर्द्धनपूर्वक सनातनधर्मके संरक्षणकेलिये राष्ट्रमें सुदृढ़ चेतनाका सञ्चार कर दिया था) इन भयावह परिस्थितियोंपर बड़ी सूक्ष्मतासे विचार करते हुए परमकल्याणकारी शास्त्रीय सिद्धान्तोंका स्पष्ट निरूपण किया है । इनमें पदे-पदे उनके सन्तहृदयकी वेदना ही प्रस्फुटित होती है । हम उनके भावोंको भी यहाँ अपने निबन्धमें प्रस्तुत करेंगे ।

(वस्तुत: करुणापरायण भारतीय मनीषियोंने सनातनधर्मकी प्रत्येक विधाओंपर पहले ही सांगोपांग विचार कर रखा है, ऐसा कोई भी पक्ष शेष नहीं बचा है जिसमें किसी नवीन विचारकी महती आवश्यकता प्रतीत हो । आवश्यकता है निष्ठापूर्वक उनके अध्ययन, मनन आदिके द्वारा उन्हें हृदयंगम करके सर्वसामान्य समाजको लाभान्वित करने की । हमारा गोपरक सम्पूर्ण शास्त्रार्थ भी ऐसे ही महनीय महाविद्वानोंका कृपाप्रसाद मात्र है । जिनमें मुख्यतया सनातनधर्मालोक (पं. श्रीदीनानाथ शास्त्री सारस्वत- जिन्होंने वेद-शास्त्रोंके प्राय: प्रत्येक विवादित विषयोंका यथार्थ रहस्योद्घाटन करके चालीससहस्र पृष्ठोंमें सनातनधर्मका बृहत्तम विश्वकोष प्रदान किया है, इसके लिये सभी सनातनधर्मावलम्बी सदैव ही उनका ऋणी रहेगा । प्रकृत पुस्तकमें उन्हींके तथा सर्वभूतहृदय धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके एतद्विषयक शास्त्रार्थोंको यथाक्रम कुछ विस्तृत करके प्रस्तुत किया जा रहा है), अभिनव शंकर, वेदार्थपारिजात, सनातनधर्मोद्धार, धर्मदिग्दर्शन, गोज्ञानकोश, गो-अंक, गोसेवा-अंक, गवार्चनप्रयोग, सुरभिस्तोत्रावलि और प्रकाश्यमान गोवंशमहिमामृतम् आदि उच्चकोटिके निर्दुष्ट सद्ग्रन्थोंके स्वभावत: वेद-शास्त्रसम्मत सर्वकल्याणकारी विचारोंका ही यहाँ पिष्टपेषण किया जा रहा है । पुन: वर्त्तमानमें सनातनधर्मके

परमोपकारक महापुरुषोंके गोपरक विचार एवं गोसेवासे प्रोत्साहित होकर गोवंशके स्वरूपको यथार्थ प्रकाशित करनेकेलिये वेद-शास्त्ररूपी महार्णवमें अवगाहनका सफलतम प्रयास किया गया है । सहृदय पाठक तन्मयतासे समागत सभी विषयोंका मनन-चिन्तन करके सबके अन्तःकरणमें सर्वपूज्य गोवंशको स्थापित कर राष्ट्रको समुन्नत बनानेमें अवश्य ही अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करके संक्रामकताको मिटाकर अपना मानवजीवन सफल करें । अस्तु)

शास्त्रोंमें लिखा है कि ब्राह्मण ही गुरु हो सकता है, ब्राह्मणेतर अन्य नहीं । धर्मशास्त्रोंमें भी स्पष्ट है कि इज्या, अध्ययन, दान, याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये छः कर्म ब्राह्मणके हैं । इज्या, अध्ययन, दान ये तीन कर्म क्षत्रिय और वैश्यके भी हैं । अध्यापन और उपदेश एक ही बात है । महाभारतमें भी आया है कि **'न हीनतः परमभ्याददीत'** अर्थात् अपनेसे निम्नवर्णके व्यक्तिसे वेदशास्त्रोपदेश ग्रहण न करे । परन्तु इसके विपरीत भी बहुत सारी विडम्बनायें देखनेमें आती हैं । आजकलकी विचारहीन परिस्थितिमें तो ब्राह्मणोंके प्रति प्रायः कुण्ठाका भाव हो चला है, इसलिये कई लोग कहा करते हैं कि जो ब्रह्म जाने वही ब्राह्मण है- **'जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर'** (श्रीतुलसीदास)। सनातनधर्मकी रीढ़ जन्मना वर्णव्यवस्थाके विरोधियोंने छद्मसे **'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते । वेदाभ्यासाद् भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥'** जैसे श्लोक बनाकर इस प्रकारसे प्रचारित किया, जिससे सनातनशास्त्रोंके अनभिज्ञ सनातनी भी भ्रमित होते रहते हैं । शास्त्राभ्यासी ब्राह्मण अहर्निश शास्त्रचिन्तनमें लगे रहनेके कारण प्रायः धनहीन होनेसे बाध्य होकर परिवारके योग-क्षेमकी चिन्तामें बहुमूल्य समयका अपव्यय करते हैं, इससे अव्याहतगत्या शास्त्रचिन्तनमें बाधा अवश्य ही आती है, पुनः उन्मत्त धनिकोंको **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'** कहते रहनेका उनका संस्कार भी नहीं हो पाता । वर्षों पहले विद्वानोंको शास्त्रप्रेमी राजाओंकेद्वारा आश्रय प्राप्त होता था, परिणामतः कौटुम्बिक योग-क्षेमका चिन्तन करनेके बदले शास्त्रीय बौद्धिकचिन्तनमें ही वे

अपने उर्वर मस्तिष्कका पूर्णतः सदुपयोग करते थे, जिससे सनातनसाहित्योत्थानके साथ ही अपनी सुदृढ़ लेखनीसे आश्रयदाताके कीर्तियुक्त नामको भी अमर कर देते थे। आज प्रायः शास्त्रज्ञानविहीन धनिकोंकेद्वारा इस व्यवस्थाका नितान्त अभाव होनेके कारण वेद-शास्त्रानुरागी ब्राह्मण भी कथा-वार्त्ता एवं अनुष्ठानादिके माध्यमसे आजीविकार्थ अपने महत्त्वपूर्ण समयका अपव्यय करके कुछ अर्थोपार्जनका भाव रखते हैं, एतावता भौतिकवादिताके भयंकर रोगोंसे युक्त लोगोंकी निष्ठा क्षीण होती चली गयी। धनहीनताके कारण भी आचारमें कुछ त्रुटि आ गयी। यद्यपि अन्य वर्णोंकी अपेक्षा कहा जा सकता है कि कट्टर सनातनधर्मी ब्राह्मणोंने ही इस विपरीत परिस्थितिमें भी वेदादि-शास्त्रोंकी रक्षा की है। आज भी, जबकि वेदादि-शास्त्रोंका महत्त्व कम समझा जा रहा है, तथापि ब्राह्मण ही उनके अध्ययन-अध्यापन एवं यथासाध्य संरक्षणमें लगे हुए हैं, इस महनीय सेवाकेलिये सम्पूर्ण सनातन संसार उनका ऋणी रहेगा। वेदके संरक्षणकेलिये द्विज सदैव जागरूक रहें और अन्योंकेद्वारा ऐसे पवित्र वैदिक-ब्राह्मणके योग-क्षेमकी सम्पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिये, यही शास्त्राज्ञा है। क्षत्रिय, वैश्यादि यद्यपि उस कार्यमें यथाकथञ्चित् सहयोग करना चाहते हैं, भले ही उनका सहयोग प्रायः समुचितपात्र तक नहीं पहुँच पाता हो, तथापि कुछ अपवादको छोड़कर उनकी स्वतः अध्ययनमें प्रवृत्ति नहीं है। स्मरण रहे, गौ और ब्राह्मणोंसे ही राष्ट्रका परम कल्याण होगा, अन्य सभी साधन मंगलमूलक नहीं हो सकते **'गोविप्रैः शोभते देशस्तैर्विहीनस्त्वमंगलः।'** परन्तु आर्थिकप्रलोभन और कमीके कारण ही ब्राह्मणोंमें भी अन्यान्य भाषाओंके अध्ययन करनेकी शोचनीय स्थिति आ गयी। उधर दूसरे लोग इतने धनहीन न होनेके कारण अन्य विषयोंमें प्रधान होनेके अतिरिक्त थोड़ी-सी भी भक्ति और ज्ञानकी बात मानने और कहनेसे श्रद्धेय एवं पूज्य बन जाते हैं, फिर उनकी गुरु आदि बननेमें भी प्रवृत्ति हो जाती है। वे शास्त्रोंके अविचारित रमणीय उपदेशोंको भी प्रसारित करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उपास्य भगवद्विग्रहके स्थानमें गुरु या स्वविग्रहस्थापनादिकेद्वारा भी शास्त्रीय सांस्कृतिक मर्यादाका उल्लंघन करके गौरवका

अनुभव करते हैं । यद्यपि सामान्यजनों को अदूरदर्शिताके कारण आपाततः इन बातोंसे कोई विशेष हानि मालूम नहीं पड़ती, तथापि शास्त्रोंमें विश्वास करनेवाले सनातनधर्मके विशेषज्ञ उसे उचित नहीं समझते । अपवाद छोड़कर शास्त्र अकुण्ठरूपसे ब्राह्मणमें ही प्रतिष्ठित हो सकते हैं । कौशिकसंहिताका विज्ञानपूर्ण उद्घोष है कि-

यावद्विप्रगतं शास्त्रं शास्त्रत्वं तावदेव हि ।
विप्रेतरगतं शास्त्रमशास्त्रत्वं विदुर्बुधाः ॥

विप्रगतशास्त्रमें ही शास्त्रत्व होता है, विप्रेतरमें स्थित शास्त्र सनातन-संवैधानिक परम्परासे हीन होनेके कारण भारतीय समाज एवं अन्योंमें भी केवल उत्पात ही फैलानेमें अग्रेसर होते हैं । अतः हमें सावधानतया दृढ़तासे धर्ममूलक वेदादिशास्त्रोंके संरक्षणका सत्संकल्प लेकर गौ, ब्राह्मण आदिके प्रति शास्त्रीय निष्ठाको उत्पन्न करके समाज, राष्ट्र तथा विश्वकल्याणका श्रेयस्कर मार्ग प्रशस्त करना होगा, अन्यथा विश्वगुणादर्शके अनुसार-

नाध्यापयिष्यन्निगमान् श्रमेणोपाध्यायलोका यदि शिष्यवर्गान् ।
निर्वेदवादं किल निर्वितानमुर्वीतलं हन्त तदाऽभविष्यत् ॥

ये भयंकर परिणाम अवश्यम्भावी हैं, इनसे बचनेका प्रयास करें । ।

यद्यपि वर्त्तमानमें कुछ हिन्दुवादी संगठन या संस्थान हिन्दुत्वकी रक्षाका दावा ठोंक रहे हैं, यह आवश्यक भी है । परन्तु हिन्दुधर्मके नियामकसंविधान श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें प्रतिपादित वर्णाश्रमादि धर्मोंका यथोचित सम्मान नहीं करनेके कारण वे पूर्णसफलताको प्राप्त करनेमें अक्षम ही रहते हैं ।

प्रसंगानुसार कौशिकसंहिताके अन्तर्गत श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें वर्णाश्रमसम्बन्धी एक विचित्र आख्यान आया है । सनातनपरम्पराकी रक्षाकेलिये इसको उद्धृत करना परमावश्यक है । भगवान् नारायण श्रीनारदसे कहते हैं कि 'पिछले युगमें एक वैश्य था । वह वृत्ति, धन, बन्धु आदिसे रहित था । उसके एक स्त्री थी, पुत्रादि नहीं थे । वह धनकेलिये जो भी उद्यम करता था, सब व्यर्थ चला

जाता था। उसकी स्त्री पेषणादि कार्य करती थी। उसकेद्वारा प्राप्त द्रव्यसे ही उसके घरका निर्वाह होता था। दम्पतिमें स्नेह भी नहीं था। आधि-व्याधिसे भी दोनों अत्यन्त पीड़ित थे। एकबार वह वैश्य दु:खी होकर घर छोड़कर किसी वनमें चला गया, वहाँ उसने एक सरोवर देखा। वहाँ ऋषि-मुनियोंका दर्शन किया। बहुत शिष्योंसे युक्त, ब्रह्मतेज:सम्पन्न साक्षात् लोकपितामह ब्रह्माके समान विराजमान महर्षि सांख्यायनका उसने दर्शन किया। मुनिको प्रणामकर उनकी आज्ञासे बैठ गया। मुनिके पूछनेपर उसने अपना वृत्तान्त बताया और कहा कि भगवन्! मेरी यह दरिद्रता क्यों आयी और कैसे जायगी? कृपा करके बताइये। मुनिने बताना प्रारम्भ किया- हे वैश्य! तुम्हारे दु:खका जो कारण है, उसे सुनो। तुम पिछले जन्ममें शूद्र थे। अधिकार न होनेके कारण भी तुमने वेदाध्ययन किया और विप्रके समान वेष बनाकर काशीमें रहने लगे। अन्तमें बहुत शास्त्रोंका अभ्यास करके तुमने संन्यासीका वेष बना लिया। फिर अनेक ब्राह्मणोंको अपना शिष्य भी बनाया। अपने शिष्योंको उच्छिष्ट भोजन भी कराया, उन ब्राह्मणशिष्योंसे तुमने उच्छिष्ट बर्त्तन साफ करवाया, पाँव दबवाया, अन्तमें मरकर उसी पापसे शिष्योंके सहित तुमने धर्मराजके पुरमें जाकर बहुत कष्ट पाया। ब्राह्मण सर्वाग्रभोजी है, उसको जो उच्छिष्ट खिलाता है, फिर चाहे मोहसे, चाहे स्नेहसे, चाहे हठसे खिलाये वह 'लालाभक्ष' नामक नरकमें जाता है। वहाँ उसको मल-मूत्र खाना पड़ता है। जो हीनवर्णका प्राणी उत्तमवर्णके व्यक्तिको शिष्य बनाता है, वह 'शूकरमुख' नामक नरकमें जाकर यमदूतकेद्वारा महती यातनाको प्राप्त करता है। सहस्रों वर्षपर्यन्त अनेकों दु:खोंका भोग करके अन्तमें 'शौकरी' और 'गार्दभी' योनिको प्राप्त करता है-

उच्छिष्टं प्राशयेद्विप्रं मोहात्स्नेहाद्धठाच्च यः ।
सर्वाग्रभोजिनं मूढो लालाभक्षं प्रयाति सः ॥
यो हीनश्चोत्तमं वर्णं शिष्यत्वे विनियोजयेत् ।
स शूकरमुखं याति ताड्यमानो यमानुगैः ॥

हे वैश्य! इस तरह तुम अनेक योनियोंमें नाना दु:खोंका अनुभव करते–करते अन्तमें चाण्डाल योनिको प्राप्त हुए थे । अन्तमें किसी कर्मशेषसे वैश्ययोनिमें तुम्हारा जन्म हुआ है । यहाँ भी पुत्र, धन अदिसे रहित, आधि–व्याधिसे पीड़ित होकर पापफल भोग रहे हो । वैश्यने कहा– भगवन् ! कोई ऐसा प्रायश्चित्त बताइये, जिससे मैं अपने दुष्कर्मोंसे मुक्तिको प्राप्त करूँ । ऋषिने कहा– तुम्हारे बड़े पाप हैं, उनका प्रायश्चित्त हमारी दृष्टिमें नहीं आता । ब्राह्मण जन्मसे ही श्रेष्ठ है, उसमें आत्मोद्धारकता एवं परोद्धारकताकी भी शक्ति रहती है, अन्य वर्णोंमें केवल आत्मोद्धारकताकी शक्ति होती है । ये दोनों शक्तियाँ ब्राह्मणमें होती हैं, अत: ब्राह्मण ही गुरु हो सकता है, दूसरा नहीं–

आत्मोद्धारकताशक्तिः परोद्धारकता तथा ।
शक्ती द्वे हीशरचिते स्वोद्धारा सर्वसंस्थिता ॥
परोद्धारा न सर्वत्र वैश्य हे! ब्राह्मणं विना ।
विप्रेन्द्र ऽएव वर्त्तेते तस्माद्विप्रो गुरुर्भवेत् ॥

अतएव ब्राह्मणकेद्वारा किया हुआ जप, होमार्चन आदि सबको मिल सकता है, अन्यकृत नहीं । इसीलिए ब्राह्मण ही ऋत्विक् हो सकता है । जहाँ विद्वान् ब्राह्मण नहीं मिल सकता, वहाँ विप्र–जातिमात्रका ग्रहण कर लेना चाहिये । अत: सुखेच्छुको चाहिये कि ब्राह्मणकी सदैव पूजा करता रहे –

अतः सर्वं कृतं विप्रैर्जपहोमार्चनादिकम् ।
लभते सर्वलोकोऽयं नान्यजातिकृतं क्वचित् ॥
अलाभे विदुषो विप्रजातिमात्रपरिग्रहः ।
अतो विप्रः सर्वपूज्यः सर्वदा सुखहेतवे ॥

विप्रेतर कभी भी विप्रका पूज्य नहीं हो सकता, यह तुमने वेद–शास्त्रोंसे तो जाना ही होगा । यह भी जानते होंगे कि विप्र कभी भी शूद्रका पूजक नहीं होता, प्रव्रज्या–संन्यास भी केवल विप्रको ही विहित है, अन्य वर्णोंको संन्यास विहित नहीं है–

किञ्चेदमपि जानासि न विप्रः शूद्रपूजकः ।
विप्रस्यैव प्रव्रज्याऽस्ति नान्यवर्णस्य कर्हिचित् ॥

आचार्यत्व भी ब्रह्माने ब्राह्मणमें ही स्थापित किया है । तप आदिसे भी अन्य वर्णमें आचार्यत्व नहीं आ सकता–

आचार्यत्वं ब्राह्मणस्य स्थापितं पद्मयोनिना ।
नान्यवर्णस्य जायेत तपऽआदिभिरत्र तत् ॥

बाह्याडम्बर मात्रसे जाति नहीं बदलती, सूत्रादिधारण करनेसे ब्राह्मणेतर ब्राह्मण नहीं बन सकता । कलिमें ब्राह्मणता केवल वीर्यसे अर्थात् जन्मसे ही होती है, तपश्चर्या आदिसे ब्राह्मणता नहीं आती । शुद्ध वस्तु किसी तरह अशुद्ध हो जाय, तो शोधनसे ही उसकी शुद्धि हो सकती है । परन्तु जो स्वभावसे ही अशुद्ध है, वह शोधनसे भी शुद्ध नहीं होती । जैसे अशुद्ध तैजस पात्र भस्मादि–संसर्गसे शुद्ध हो जाता है, परन्तु मलादि तो गंगामें डुबाने पर भी शुद्ध नहीं होता । आजकी विडम्बनामें तो एक तिलक–मालाविशेषको धारण कर लेने मात्रसे भी कोई द्विज ही नहीं द्विजोत्तम बन जाते हैं और बना दिये जाते हैं ।

न हि जातिपरावृत्तिश्चिह्नमात्रपरिग्रहात् ।
न नापितो ब्राह्मणतां याति सूत्रादिसंग्रहात् ॥
कलौ ब्राह्मणता वीर्यात्तपश्चर्यादिना न हि ।
शुद्धं त्वशुद्धतामेत्य शोधनाच्छुद्ध्यते पुनः ॥
यच्च स्वभावतोऽशुद्धं तन्न शुद्ध्यति शोधनात् ।
यथा भस्मादिसंसर्गादशुद्धं तैजसं शुचि ।
मूत्रं न शुद्धिमाप्नोति गंगाम्भः प्लावनादपि ॥

दम्भके समान कोई पाप नहीं, सत्यके समान कोई पुण्य नहीं । तुमने दम्भके कारण बड़ा पाप किया है । तुम्हारे वे शिष्य अज्ञानसे तुम्हें गुरु बनानेके कारण कुम्भीपाकादि घोर नरकोंमें गये हैं–

ते शिष्या निखिला जग्मुरज्ञानाद् गुरुधारणात् ।
नरकान् क्रमशो वैश्य कुम्भीपाकमुखान् बहून् ॥

अस्तु अन्तमें इक्कीस दिन भागवतसेवन करनेका उपदेश उस वैश्य को दिया गया ।

आश्चर्यके साथ कहना पड़ता है कि सर्वज्ञकल्प महर्षियोंने लाखों वर्ष पूर्व ही किस तरह कलिके वृत्तान्तोंका वर्णन किया है? धर्मशास्त्रों, इतिहासों एवं पुराणादिकोंमें सनातनधर्मकी सम्पूर्णमर्यादायें यथार्थरूपसे वर्णित हैं। मोह अथवा लोभवश कुछ लोग उन बातोंको अप्रामाणिक कहने लगते हैं। मर्यादाके उल्लंघनकालमें प्राणी शास्त्रोंकी और शिष्टोंकी उपेक्षा करता है । परन्तु फल भोगनेके समयमें घबराता है, रोता है, प्रतीकारोपाय ढूँढता है, भटकता है–

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

ब्राह्मणेतरका संन्यास लेना, ब्राह्मणको शिष्य बनाना, उन्हें उच्छिष्ट खिलाना, उनसे पादसंवाहन कराना आदि आज पूर्णरूपसे विस्तारको प्राप्त हो रहे हैं । ब्राह्मणलोग भी वेद-शास्त्रके सम्बन्धको छोड़ते जा रहे हैं, धर्मकी उपेक्षा करके किञ्चित् लोभ एवं प्रपञ्चके कारण ब्राह्मणेतर वर्णोंके शिष्य बनते जा रहे हैं । ये ऐसे कर्म हैं कि जिनसे ब्राह्मणोंका तो पतन है ही, साथ ही इतर वर्णोंका भी सर्वनाश हो जाता है । अतः क्या ही अच्छा हो कि पीछे पछतानेकी अपेक्षा पहलेसे ही सोच-समझकर चलें । फिर सहसा किसी आर्षग्रन्थके किसी वचनको अप्रामाणिक कहनेका साहस नहीं होगा तथा कपोल-कल्पित अनर्थोंकेद्वारा वेदादिशास्त्रोंपर प्रहार भी प्रायः समाप्त हो जायगा । वेदभगवान् भी ऐसे द्विपाद् प्राणीसे भयभीत होते हैं–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

मन्त्र–ब्राह्मणात्मक वेदमन्त्रोंमें गौ और बैलकेलिये अघ्न्या अथवा अघ्न्य पदका प्रयोग बहुलतासे प्राप्त होता है । इस पदका अर्थ किसी भी परिस्थितिमें गोवंशकी अवध्यताको ही सिद्ध करता है । वैदिक–पद सार्थक और अन्वर्थक होते हैं । गोमेधमें गोवधपूर्वक गोमांससे हवनकी कल्पना अत्यन्त निराधार सिद्ध होती है । वेदोंमें 'गौ' पदके गव्यपदार्थ एवं गोचर्म आदि अनेक अर्थ हुआ करते हैं । मुख्यतया अनेक स्थलोंमें दुग्ध तथा घृतकेलिये 'गौ' पद प्रयुक्त है । यथा– **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'**(ऋ.) गोभिः– गौओंके साथ, मत्सरम्– सोमको, श्रीणीत– मिलाओ, यह अर्थ है । यहाँ गव्यपदार्थ दुग्धके साथ ही सोमरसको मिलाना युक्तिसंगत हो सकता है न कि सम्पूर्ण गौके साथ । वैदिकभाषाकी ऐसी रहस्यात्मक शैलीका अवबोध हो जानेपर ही वेदार्थ प्रकट किया जा सकता है । अलौकिक शास्त्रीयनिष्ठा जहाँ जितनी मात्रामें है वहाँ उतनी ही मात्रामें गोवंश एवं साधु–ब्राह्मणादिके प्रति शास्त्रप्रतिपादित पूज्यभावकी दृढ़ता परिलक्षित होती है । केवल लौकिक उपयोगितावादिताके बलपर इस महाविज्ञानको अक्षुण्ण बनाये रखना अत्यन्त दुष्कर है ।

हमारा धार्मिकसम्बन्ध वेद–शास्त्र तथा वैदिक ऋषियोंके आचार–विचारसे घनिष्ठरूपमें है, इसलिये वैदिक–सिद्धान्तोंका अनुशीलन भारतीय सनातन वैदिक–परम्परासे प्रकरणके अनुसार ही करना श्रेयस्कर होगा **'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'** (निरुक्त) । यथा– योगशास्त्रप्रयुक्त श्लोकमें– **'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्'** (हठयोगप्रदीपिका **३।४७**) बाह्यदृष्टिसे गोमांसभक्षणकी अविचारित वैधता प्रतीत होती है, परन्तु **'परोक्षवादो वेदोऽयम्'** (भागवत) आदिके अनुसार वेदादिशास्त्रोंमें बाह्यदृष्ट अर्थ प्रायः प्रामाणिक नहीं हुआ करता, अपितु इस प्रकारके रहस्यात्मक स्थलोंमें तात्पर्यार्थका ही ग्रहण करना श्रेयस्कर होता है । सामान्यतया अत्यन्त कुटिलभाववाले अप्रामाणिक लोग इसका

यह अनर्थ कर देते हैं कि योगशास्त्र वाममार्गके प्रचारार्थ अपने मतके अनुकूल गवाशन और मद्याशन वैध बताते हैं, जो भयंकर दोषपूर्ण अर्थ ही है । यद्यपि वाममार्गमें प्रयुक्त पदोंके अर्थ अतिशय गूढ़ होते हैं, सामान्य बुद्धिमें इनका प्रकटीकरण सम्भव नहीं है–

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।

किसी शास्त्रका अर्थ उसी शास्त्रकी परम्पराके अनुसार करना चाहिये । कण्टकारी शब्दका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ उपानह् आदि भी होता है परन्तु आयुर्वेदमें इस अर्थसे भिन्न यह एक ओषधिविशेष है । अतः इसके विपरीत अर्थ ग्रहण करनेयोग्य नहीं होते हैं । योगमें गोमांसभक्षण एक यौगिकक्रिया है–

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥
जिह्वाप्रवेशसञ्जातः सुषुम्णासोमसम्भवः ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सैवेहामरवारुणी ॥

(हठयोगप्र० ३।४८-४९)

गोशब्दका अर्थ है जिह्वा, उसका प्रवेश तालुस्थानमें करना, योगप्रणालीके अनुसार इस क्रियाविशेषका नाम गोभक्षण दिया गया है । इसी प्रकार 'अमरवारुणी' मस्तिष्ककी ग्रन्थीके रसका नाम है । प्रत्येक शास्त्रोंके अर्थको उसी शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार करना प्रामाणिक होता है । योगशास्त्र तो प्रारम्भसे ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम, नियमोंका उपदेश करता आ रहा है, तो फिर उसी अहिंसाकी स्थापना करनेवाले योगशास्त्रमें अवध्य गोवंशकी हिंसा भला कैसे सिद्ध हो सकती है?

परमप्रमाण वेदभगवान्ने स्वयं ही गौ को विश्वरूप अथवा सर्वरूप कहा है **'एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्'** (अथर्व–९–७–१।२५) । प्राणिमात्रकी प्रतिष्ठा

गोवंश ही है '**गाव: प्रतिष्ठा भूतानाम्**' (महा.अनुशा. ७८।५) तथा '**गावो विश्वस्य मातर:**' गौएँ विश्वकी माता हैं आदि । अत्यन्त प्रसिद्ध 'मूर्त्तिरहस्यम्'में तो देवीके अनेक स्वरूपोंकी महिमाका गान करके कामधेनु गौकेलिये एक विशिष्टतम रहस्यका प्रतिपादन किया गया है, जो गौकी सर्वपूज्यता और सर्वसुलभता सिद्ध करनेमें पर्याप्त होगा-

इत्येता मूर्त्तयो देव्या या: ख्याता वसुधाधिप !
जगन्मातुश्चण्डिकाया: कीर्तिता: कामधेनव: ॥

हे राजन्! इस प्रकार जगन्माता चण्डिका देवीकी ये जो विभिन्न मूर्त्तियाँ बतायी गयी हैं, वे ही सर्वत्र अतिसुलभ विख्यात भगवती कामधेनुके रूपमें कीर्तित होनेपर सबका परम कल्याण करती हैं, '**इदं रहस्यं परमम्**' यह परम गोपनीय रहस्य है । गोवंशके प्रति ऐसे अनेकविध उदात्त विचार प्रस्तुत करनेवाले वेद-शास्त्र उसकी वध्यताका कभी समर्थन करे यह त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है । जगज्जननी गोमाताके प्रति किया हुआ अपराध सम्पूर्ण विश्वको अशान्त बना डालेगा, परिणाम भी प्रत्यक्षत: हम देख ही रहे हैं । जिसका प्रतीकार केवल सर्वकल्याणमूल गोवंशके संरक्षण-संवर्द्धनसे ही हो सकता है, इसका कोई दूसरा उपाय अकिञ्चित्कर ही सिद्ध हो रहा है । विश्वमाता होनेके कारण गोवंशके प्रति अपराध करनेवाले दुष्ट एवं नीच कुपुत्रोंकी भी यह माता ही है, अत: जो कृतघ्न मातृहन्ता बनकर भयंकर पापपुञ्जको जमा कर रहे हैं वे सावधान हो जायँ ।

वेदादि-शास्त्रोंकी 'अघ्न्या' देवी भगवती गोमाता- जो तैंतीसकोटि वैदिक देवताओंकी आश्रयस्थली है । जिसपर अहिन्दुओंके शासनसे लेकर स्वराज्य हो जाने तक भी वधकेलिये आक्रमण होता जा रहा है । हम उसकी अवध्यताको वेदादिशास्त्रोंकेद्वारा सिद्ध करनेका समुचित प्रयास कर रहे हैं । पर आजके पाश्चात्यानुयायी पौरस्त्य संसारमें यह धारणा अभी तक भी बद्धमूल है कि 'प्राचीन भारतमें गोवध होता था' । वे इसके प्रमाणस्वरूप कई वचन भी उद्धृत करते हैं ।

वे यहाँ दिये जा रहे हैं, जैसे –

(१) **'शसने न गावः'** (ऋ.१०।८९।१४) यहाँ वे वेदमें गौओंकी वधशाला मानते हैं । (२) **'मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम् । औक्ष्णेन वा आर्षभेण वा'** ॥ (बृहदारण्य.६।४।१८) यहाँ उनके मतानुसार बैलके मांसको पकाकर खानेसे वे वेदके विद्वान् पुत्रकी उत्पत्ति मानते हैं । (३) **'महोक्षं वा महाजं वा पचेत् । एवमस्य आतिथ्यं कुर्वन्ति'** (४।८) । वसिष्ठस्मर्षतिके इस वचनसे पूर्वकालमें अतिथि-सत्कारमें बैलका पकाना सही बताते हैं । (४) इसीसे वे- **'गोघ्नोऽतिथिः'** (५।६।७) यह व्याकरणादिसे प्रसिद्ध प्रमाण भी उपस्थित करते हैं । (५) इसीमें उपोद्वलक-स्वरूप वे- **'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्** (३।४।१।२)' यह शतपथब्राह्मणका तथा (६) **'अश्नाम्येव अहम्' अंसलं चेद् भवति'** (शत. ३।१।२।२१) यह याज्ञवल्क्यका तथा (७) **'मनुष्यराजे आगतेंउक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते'** (१।१५) यह ऐतरेयब्राह्मणका प्रमाण देकर उसमें (८) उत्तररामचरितका **'कल्याणी मडमडायिता'** तथा (९) राजा रन्तिदेवका **'अहन्यहनि बध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा । समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ॥'** (३।२।८-९) आदिकेद्वारा गोवधसे अतिथिसत्कार बताया करते हैं । इसी प्रकारके कई अन्य वचन भी दिये जाते हैं । ये गोविरोधियोंके बड़े ही प्रसिद्ध प्रमाण हैं । उन्होंने पौरस्त्य-विद्वानोंको भी मोहमें डाल रखा है । हम भी इस विषयमें कुछ अपने शास्त्रानुसारी विचार यथाक्रमसे उपस्थित करते हैं । विद्वान् पाठक इधर सावधानताकी दृष्टि डालेंगे । 'प्रधान-मल्ल-निर्वहण' न्यायसे इनके समाधान हो जानेसे शेष छोटे-मोटे इन जैसे वचनोंका स्वयं समाधान हो जायगा । इस विषयको बड़ी सावधानीसे समझनेकी आवश्यकता है, क्योंकि इसमें शास्त्रीय विवेचनाओंका ही बाहुल्य होगा । हम क्रमशः इन आपत्तियोंपर भारतीय वैदिक परम्परानुसार विचार प्रस्तुत करते हैं ।

२

गौओंकी वधशाला वेदशास्त्र-सम्मत नहीं है

समस्या- वेदोंको पाश्चात्य दृष्टिकोणसे देखनेवाले आजकलके अप्रामाणिक विचारक कहते हैं कि- 'वेदके अमुकमन्त्रमें गौओंकी वधशालाका वर्णन है; इससे सिद्ध है कि प्राचीन भारतमें वेदानुकूल गोवध हुआ करता था'। वह मन्त्र यह है- **'कर्हिस्वित्सा तऽइन्द्र! चेत्या सदघस्य यद् भिनदो रक्षऽएषत्। मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्याऽआपृगमुया शयन्ते ॥'** (ऋ.सं. १०।८९।१४)

कुछ वैदिकम्मन्य इसका गलत अर्थ यह किया करते हैं कि- 'हे इन्द्र! जिस अस्त्र या बाणको फेंककर तुमने पापी राक्षसको काटा था, वह कहाँ फेंकनेयोग्य है? जैसे गोहत्याके स्थानमें गौएँ काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्रसे निहत होकर मित्रद्वेषी-राक्षस लोग पृथ्वीपर गिरकर सदाकेलिये सो जाते हैं। स्पष्ट है कि- इस मन्त्रका रचनाकाल गोवध निषेध करनेवाले मन्त्रोंसे प्राचीन है।' (कोई महाशय)

वास्तविक समाधान- दुःख है कि स्वयंको वेदज्ञ माननेवाले गोविरोधी भारतीय महाशयोंकेद्वारा भी यहाँ गौओंकी वधशाला सिद्ध की गयी है। वेदके या किसी भी ग्रन्थके अर्थ अपनी इच्छाके अनुसार नहीं हुआ करते, किन्तु उसके उत्तरपक्षके अनुसार हुआ करते हैं। वेदमें गायका नाम 'अघ्न्या' आया है। जैसे कि-

इडे! रन्ते! हव्ये! काम्ये! चन्द्रे! ज्योते! अदिते!।
सरस्वति! महि! विश्रुति! एता ते अघ्न्ये! नामानि ।।(यजु.सं.८।४३)

यहाँपर गायका 'अघ्न्या' ही मुख्य नाम आया है। वैदिक-निघण्टुमें 'गोनामानि' कहकर **'अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, मही, अही, अदिति'** (यजु.सं. २।१४) आदि नौ नाम बताये गये हैं। इनमें पहला नाम अघ्न्या है। वेदमें बैलका नाम भी **'अघ्न्य'** आया है, जैसे कि- **'सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः।'** (ऋ.५।८३।८), **'श्रृंगाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्ति हन्ति चक्षुषा। श्रृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥'** (अ.९।४।१७), **'ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्वा वरीयः कृणुते मनः।**

पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ।।' (अ.९।४।१९), **'यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः । तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वनाभृताः ।।'** (अ.८।७।२५)

इन शताधिक मन्त्रोंमें आये हुए वृष और गायकेलिये प्रयुक्त **'अघ्न्य'** और **'अघ्न्या'** पदका अर्थ सभी भाष्यकारोंने 'न हननकरनेयोग्य' ही लिखा है । निरुक्तकार श्रीयास्कने भी–

'अघ्न्या-अहन्तव्या भवति । अघघ्नीति वा ।' अघ्न्या कस्मात्? सा हि सर्वस्यैव अहन्तव्या भवति । (निरुक्त ११।४।४३), **'सूयवसाद् भगवती हि भूयाऽअथो वयं भगवन्तः स्याम । अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।।'** (ऋ.सं. २।३।२१)

दुर्गभाष्य– **'यवसमेव यवसम् 'यवसं तृणमर्जुनमित्यमरः' तज्जग्ध्वा सुयवसाद्-सुयवसादिनी सती भगवती- सर्वैर्भजनीयप्रभूतक्षीरादिधनवती (पयस्विनी) भूयाः-भव । अथोऽनन्तरमिदानीमेव वा वयमपि च ततस्त्वत्प्रत्तेन पयसा भगवन्तः- धनवन्तः स्याम-भवेम । या त्वमस्माकमेवमुपकारिणी, या त्वं विश्वदानीं सर्वदा (नित्यकालमेव) अद्धि तृणमघ्न्ये पिब च शुद्धम्-अकलुषम् उदकम् आचरन्ती-आसमवन्ती (आ सर्वतो यथाकाममरण्ये चरन्ती)त्यर्थः ।'**

पुनः–

हिंकृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो ऽअघ्न्येयं सा वर्द्धतै सौभगाय ।।

(ऋ.सं.२।३।१९)

आदि ऋचाओंमें प्रामाणिक भाष्यकारोंकेद्वारा ऐसा ही अर्थ स्वीकार किया गया है । अन्य किसी भी पशु आदिकेलिए 'अघ्न्या' यह विशेष-शब्द न कहकर केवल गाय-बैलकेलिये ही वेदकेद्वारा वैसा कहना वेदके मतमें गायकी अवध्यता सिद्ध करता है । 'अघ्न्या' यह नाम चारों वैदिक-संहिताओंमें उपलब्ध होता है ।

जैसे- **'योऽअघ्न्याया भरति क्षीरम् ।'** (ऋ.सं.१०।८७।१६), **'आप्यायध्वम् अघ्न्या'** (यजुर्वेदसं. १।१), **'उत प्र पिप्य ऽऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः । मूर्धानं गाावः पयसा चमूष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ।।'** (सामवेद उत्तरार्चिक ६।१५।३), **'तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु'** (अथर्वसं. १९।१६।२) इत्यादि ।

गाय वैदिककालसे ही भारतीय धर्म और संस्कृति-सभ्यताकी प्रतीक रही है । वेदभगवान् तो स्वयं ही गौको प्रणाम करते हैं- **'अघ्न्ये! ते रूपाय नमः'**,

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः ।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ।।
(अ.शौ.१०।१०।१, पैप्पलाद.१६।१०७।१)

हे अवध्य गौ! तेरे स्वरूपकेलिये प्रणाम है । अतः गाय सर्वथासे धर्मप्राण भारतकेलिये पूजनीय रही है । उसके दर्शन, पूजन, सेवा-शुश्रूषा आदिमें आस्तिक मनुष्य पुण्य मानते हैं । किसी पूज्यसे पूज्य व्यक्तिकी भी मूत्र एवं विष्ठा पवित्र नहीं मानी जाती, किन्तु गोमूत्र गंगाजलके समान पवित्र माना गया है और पुनः गोमूत्र तथा गोमयमें लक्ष्मीका निवास भी कहा गया है, यदि व्यासस्वरूप श्रीमन्नारायणके ऐसे महनीय वाक्योंपर सचमुच विश्वासपूर्ण निष्ठाका भावोदय हो जाय तो गोवंशकी सन्निधि होते हुए भी लक्ष्मीप्राप्तिकेलिये अशास्त्रीय देशान्तरभ्रमणकी क्या आवश्यकता होगी? इसमें प्राचीन ऋषिगण प्रमाण हैं । अपने ही मन्दिरमें साक्षात् श्रीजी एवं श्रीपतिके विराजमान् होते हुए भी श्रीमान् बननेकेलिये न जाने क्या-क्या प्रपञ्च नहीं किये जा रहे हैं, केवल सस्वर **'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'** वाला गीत गानेमात्रसे निःश्रेयससिद्धिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अस्तु । चान्द्रायणादि महाव्रतों एवं यज्ञोंमें पञ्चगव्य पीनेका विधान है, जिसमें गोमय एवं गोमूत्र मिश्रित रहते हैं । शास्त्रोंके अनुसार हमारे अंग-प्रत्यंग, मांस-मज्जा, चर्म और अस्थिमें स्थित पापोंका विनाश पञ्चगव्यके पानसे होता है । गाय सर्वदेवमयी है-

सर्वे देवाः स्थिता देहे सर्वदेवमयी हि गौः ।

गायके शरीरमें सभी देवताओंका निवास है, अतः गाय सर्वदेवमयी है । भगवान् श्रीराम-कृष्णादिके अवतारकालमें ऋचाओंने ही गौ और गोपीका रूप धारण किया था **'गोप्यो गाव ऋचः'** (कृष्णोपनिषत्-८) । भगवान् श्रीराम-कृष्णादिकी श्रुतिरूपागौकी सेवा एवं गोपियोंमें रमणकरनेका यह रहस्य है ।

भारतीय संस्कृति यज्ञ-प्रधान है । वेदसे लेकर रामायण, महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थों तक सर्वत्र यज्ञको ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है । यज्ञके आधार हैं- मन्त्र और हवि, जिनमें मन्त्र ब्राह्मणके मुखमें निवास करते हैं तो हवि गायके शरीरमें-

ब्राह्मणानां गवां चैव कुलमेकं द्विधा कृतम् ।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति ॥

हविके अभावमें यज्ञकी कल्पना भी सम्भव नहीं । **'यष्टव्यमिति भावेन यज्ञं कुर्यात्प्रयत्नतः'** इस पवित्र भावसे अनिवार्यत्वेन कर्तव्यधर्मबुद्ध्या ही अदृष्टफलक यज्ञानुष्ठानका सम्पादन करना चाहिये, न कि लोकप्रदर्शनार्थ अथवा किसी प्रचारादिके बाध्यतावश होकर । आजके परिवेशमें अधिकाधिक धनका व्यय करके यज्ञ तो खूब हो रहे हैं, परन्तु शास्त्रीय विधियोंका पालन प्रायः नहीं होनेसे वे प्रदर्शनमात्र ही बनकर रह जाते हैं, जिनमें चर्बीयुक्त बाजारू घृतादिका प्रयोग, स्त्रियों, द्विजेतरों, शिखा-सूत्रविहीनों तथा स्यूतवस्त्र धारणकरनेवालोंसे हवनादि कराना आदि अशास्त्रीय नियमोंका धड़ल्लेसे प्रयोग करके तथाकथित कर्मकाण्डीलोगभी केवल धनार्जनको ही अपना परम कर्तव्य मान रहे हैं, जो **'विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति'** के अनुसार विनाशकारी परिणाम देनेवाला है । भगवान् श्रीकृष्णने तो श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट कह दिया है-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

इसलिये शास्त्रीयताका अपलाप कभी नहीं करना चाहिये। यज्ञादि कर्मकाण्डमें न्यूनता अथवा अतिरिक्तताको दोष माना गया है।

वर्तमानमें तो वेदभगवान्‌केलिये ही एक भयंकर समस्या यह भी देखनेमें आ रही है कि श्रुति-स्मृतिके पारम्परिक यथार्थज्ञानसे विहीन तथाकथित अधिकतम स्वयम्भू कथावाचकगण कृत्रिम मन्दहाससे युक्त होकर अपनी अविचारित रमणीय बातोंकेद्वारा प्रायः यज्ञ एवं अन्य वैदिक कर्मकाण्डके प्रति लोगोंका निष्ठाभाव दूर करनेका असफल बौद्धिक प्रयास करनेमें तत्पर हैं, वे यहाँ तक उपदेश कर बैठते हैं कि कोई पुत्र अपने मृतपितरोंका श्राद्धादि कर्म न करके हमारी कथा सुन ले तो उनके पितर स्वर्ग ही नहीं सीधे मुक्त हो जायेंगे। यज्ञमें, गृहप्रवेशमें अथवा अन्य कर्मकाण्डोंमें जो धन व्यय करोगे उसे कथामें लगा दो तो यज्ञ एवं वास्तुशान्ति आदिका फल मिल जायगा- (यद्यपि अपनी कथाके आयोजनमें सुनामीकी तरह धनका अपव्यय करवाके अपने-आपको साक्षात् पराशरपुत्र व्याससदृश ही प्रशस्त और प्रसिद्ध मानकर फूले नहीं समाते हैं)। इसप्रकारके अतिकुटिल अशास्त्रीय विचार विज्ञानपूर्ण सनातन वैदिकसंस्कृतिको समूल विनष्ट करनेवाला है, जबकि शास्त्रोंमें भगवदाराधनरूप श्रौत-स्मार्त यज्ञपुरुषके अंगके रूपमें ही कथाका वर्णन किया गया है। वे अधिकारी द्विजसे भी सन्ध्या-गायत्रीके बदले गुरुप्रदत्त मन्त्रका ही जप करनेका उपदेश देते हैं, भले ही स्वयं व्यासजी भगवान् वेद, धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत एवं नाना पुराणोंको गायत्रीका प्रामाणिक भाष्य बताते हों परन्तु नारायणस्वरूप व्यासजीका गुणगान करते हुए भी मधुसूदनरूपी वृक्षके मूलका उच्छेदन करनेमें उनकेद्वारा बड़ी अभिरुचि दिखायी जा रही है। सावधान-

धर्मदृढबद्धमूलो वेदस्कन्धः पुराणशाखाढ्यः।
क्रतुकुसुमो मोक्षफलो मधुसूदनपादपो जयति॥ (ग.पु.)

मूल छिन्न हो जानेपर फलकी आशा निराशामें ही बदल जायगी, इसमें **'श्रम एव हि केवलम्'** मात्र ही नहीं अपितु भयंकर प्रत्यवाय भी निश्चित है।

वास्तवमें-

निष्पाद्यन्ते नरैस्तैस्तु स्वधर्माभिरतैस्सदा ।
विशुद्धाचरणोपेतैः सद्भिः सन्मार्गगामिभिः ॥
(विष्णुपुराण १।६।९)

जो मनुष्य सदा स्वधर्मपरायण, सदाचारी, सज्जन और सुमार्गगामी होते हैं उन्हींसे यज्ञादि अनुष्ठानका यथावत् निष्पादन हो सकता है ।

फिर गौएँ तो यज्ञकेलिये ही उत्पन्न हुई हैं, यज्ञ विश्वका जीवन है अतः गोवंशके संरक्षणार्थ एवं सर्वप्राणिकल्याणार्थ शुद्ध गव्यपदार्थकेद्वारा शास्त्रोक्त विधिसे विश्वजीवनयज्ञका सम्पादन करना अनिवार्य है-

गावो यज्ञार्थमुत्पन्ना यज्ञो वै विश्वजीवनम् ।
श्रौत-स्मार्त्तेन यज्ञेन गवां रक्षा भवेद् ध्रुवम् ॥

अन्यथा-

गोषु प्रनष्टमानासु यज्ञो नाशं गमिष्यति ।
यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति ॥

के अनुसार सर्वनाश निश्चित है । मनुस्मृतिके यज्ञविज्ञानको देखें-

अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (३।७६)

शास्त्रीयविधिसे अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमण्डलमें प्राप्त होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है । इस श्लोकमें बहुत बड़ा यज्ञविज्ञान छिपा हुआ है ।

वेदादिशास्त्रोंमें हविर्धानी अथवा होमधेनुके नामसे प्रसिद्ध गाय भारतीय धर्म और संस्कृतिकी मूलाधार रही है । प्रसिद्ध है कि '**गोषु वेदाः प्रतिष्ठिताः**' गौमें सारे वेद प्रतिष्ठित हैं । सामान्यतया तो इसका यह भाव है कि शुद्ध गव्यपदार्थके सेवनसे सात्त्विक बुद्धिका प्रादुर्भाव होता है । पुनः उसी सात्त्विक बुद्धि या पवित्र

अन्तःकरणमें वेदभगवान्‌का प्राकट्य होता है । परन्तु इसके विज्ञानपूर्ण मौलिक रहस्यपर थोड़ा चिन्तन करना अनिवार्य है। मनुस्मृति में लिखा है–

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥(१२३)

ब्रह्माने अग्नि, वायु और सूर्यसे (क्रमशः) ऋग्रूप, यजूरूप और सामरूप तीन भागोंसे युक्त सनातन वेदको यज्ञोंकी सिद्धिकेलिये दुहा । अब यह विचार करें कि **'दुदोह'** क्रियापदकी सिद्धि तो प्रणवाक्षररूपिणी गौसे ही हो सकती है । **'धेनूनामस्मि कामधुक्'**से तो गौकी भगवद्रूपता सिद्ध ही है । शास्त्रोंमें गौको **'गायत्रीप्रतिपादिताम्'**से गायत्रीरूपा भी कहा गया है । त्रयात्मक प्रणवसे तीन महाव्याहृतियाँ, तीनों महाव्याहृतियोंसे क्रमशः गायत्रीके तीन पाद एवं तीन पादोंके अधिष्ठातृ देवता अग्नि, वायु और सूर्यरूपी गौसे ऋक्, यजुः और सामरूप क्षीरका दोहन किया गया है । निरुक्तमें **'आदित्योऽपि गौरित्युच्यते'** आदिसे इन तीनोंकी गोरूपता बतायी गयी है । (यद्यपि इसमें अर्थान्तरकी भी प्रवृत्ति है तथापि **'शब्दानामनेकार्थाः'** शब्दोंकी अनेकार्थता होनेसे हमारा प्रयोजन गौकी विश्वरूपता अथवा सर्वरूपता सिद्ध करनेमें है) इन्हीं गोरूपवाले अग्नि, वायु तथा सूर्यसे ब्रह्माजीने सम्पूर्ण प्राणिमात्रका जीवन एवं आश्रय यज्ञकी सिद्धिकेलिये ऋक्, यजुः और सामरूप दुग्धका दोहन किया । अतः **'गोषु वेदाः प्रतिष्ठिताः'** तथा **'गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः'** आदि वाक्योंमें अत्यन्त रहस्यपूर्ण विज्ञान भरा पड़ा है । अधिक व्याख्यानका अवसर एवं प्रसंग नहीं होनेके कारण यहाँ संकेतमात्रका ही दिग्दर्शन किया गया है । शास्त्रोंके अनुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदको भी गोरूप कहा गया है । भगवान् श्रीकृष्णने वत्स अर्जुनके माध्यमसे उसी वेदोपनिषद्रूप गौको दुहकर विश्वकल्याणकारी अलौकिक श्रीमद्भगवद्गीतारूपी दुग्धामृत प्रदान किया है–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥

अतः धर्मग्लानिको दूरकर धर्मसंस्थापनके उद्देश्यसे अवतरित भगवान् एवं भगवद्विभूतियोंने सदैव गो-ब्राह्मणोंकी रक्षाके माध्यमसे वैधानिक यज्ञको ही सर्वोच्च प्राथमिकता दी है- **'गोब्राह्मणहिताय च'** पुनः इन दोनोंके माध्यमसे यज्ञके द्वारा **'जगद्धिताय'**की वैज्ञानिकता सिद्ध की है ।

विश्वामित्रजीने भगवान् श्रीरामसे तारकाका वध करनेकेलिये इसीलिये कहा था कि-

एनां राघव! दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम् ।
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ॥
(वा.१।२५।१५)

हे रघुनन्दन! तुम गौओं और ब्राह्मणोंका हित करनेकेलिये दुष्टपराक्रमवाली इस परम भयंकर दुराचारिणी यक्षीका वध कर डालो । तब भगवान् श्रीरामने विश्वामित्रजीकी आज्ञाको विश्वकल्याणार्थ जानकर उनसे कहा-

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय वै ।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः: ॥(१।२६।५)

हे ब्रह्मविद्वरिष्ठ महात्मन् ! गौ, ब्राह्मण तथा पुनः उन दोनोंकेद्वारा सम्पूर्ण देशका हित करनेकेलिये मैं आप जैसे अनुपम प्रभावशाली महात्माकी आज्ञाका पालन करनेको सब प्रकारसे उद्यत हूँ । वेदभगवान्ने तो गोवंशको ही सर्वोच्च राष्ट्ररक्षक माना है-

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे ।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्' ॥
(अ.१०।१०।८)

हे वशा गौ! तुम दूध देनेवालीमें सर्वप्रथम रहती हो, पुनः तुम्हीं भूमिकी कृषि कराती हो । इस प्रकार तुम दुग्ध और अन्न देकर तीसरे लाभमें राष्ट्रको परिपुष्ट बनाती हो ।

आजके परिवेशमें तो महती आवश्यकता है कि गो-ब्राह्मण-संरक्षणपूर्वक राष्ट्रके सर्वविध अभ्युदयकेलिये वसिष्ठ, विश्वामित्र आदिके सदृश कोई महात्मा हों जो श्रीराम आदिके जैसे उदात्त गुणवाले तेजस्वी राष्ट्रभक्त शासकका निर्माण करके इस धर्मप्राण भारतवर्षको प्रदान कर सकें। भगवान् स्वयं ही गौ, ब्राह्मण तथा विश्वके प्राणिमात्रकी रक्षाकेलिये अतिशीघ्र अवतरित होना चाहते हैं, परन्तु अदिति-कश्यप, दशरथ-कौसल्या, जनक-सुनयना, कीर्ति-वृषभानु, देवकी-वसुदेव एवं यशोदा तथा गोभक्त गोपराज नन्द जैसे सद्गृहस्थकी जोड़ीको व्यग्रतासे ढूँढ रहे हैं, इसीमें विलम्ब हो रहा है। इस कमीको दूर करनेकेलिये सभी सद्गृहस्थ कृतसंकल्प हो भगवदाराधनमें संलग्न हो जायँ तो साक्षात् श्रीभगवान्के ही नेतृत्वमें गोरक्षणादिकी समस्याका समाधान अतिसुलभतासे हो जायगा। अन्यथा आज गोरूपा श्रुतियोंका पालक **'श्रुतिसेतुपालक'** (श्रीतुलसीदास) परमात्मा अपने आराध्य गोवंशकी साम्प्रतिक दयनीय स्थितिको देखकर क्या सहन कर जाते? तथापि भगवान् अपने किसी परिकरको ऐसी महनीय सेवाकेलिये नियुक्त करते ही रहते हैं।

साम्प्रदायिक तिलक-माला आदिके निकृष्ट विवादोंको समाप्त करके सभी भिन्न-भिन्न महनीय धार्मिकसम्प्रदायोंके आश्रमवाले स्वसामर्थ्यानुसार कटिबद्ध होकर कमसे कम अपने-अपने आचार्यके सिद्धान्तोंको अक्षुण्ण बनाये रखनेकेलिये भी विशिष्ट मौलिक विद्वान् और भगवद्भक्तका निर्माण करनेका सत्संकल्प कर लें तो सनातनधर्मका अतिशय उपकार हो जायेगा। विचार करें कि यदि शुद्ध वैदिकसिद्धान्तके निर्दुष्टप्रचारक भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके अनुयायियोंमें अद्वैतसिद्धान्त प्रतिष्ठित न हो, श्रीनिम्बार्काचार्यके आश्रमोंमें द्वैताद्वैतसिद्धान्तके विद्वान्, श्रीरामानुजाचार्य एवं श्रीरामानन्दाचार्यके मठोंमें विशिष्टाद्वैतके, श्रीवल्लभाचार्यके परिकरोंमें शुद्धाद्वैतके तथा श्रीमहाप्रभु चैतन्यादिके गौडीयादि मठोंमें अचिन्त्यभेदाभेद आदिके महापण्डितोंका निर्माण और सम्यक् उपलब्धि न

हो तो भला इनकी अपेक्षा कोई कहाँसे करे? क्या शास्त्रसिद्धान्तसे विहीन केवल कोरे कथा-कीर्तनके माध्यमसे ताली बजवाने, सिर-कमर हिलाने या अनधिकृतरूपसे प्रभूत धन-मान अथवा मिथ्याप्रशंसा प्राप्तकरके उच्चकोटिकी भौतिक सुख-सुविधाओंको भोगलेने मात्रसे सनातनधर्मकी रक्षा की जा सकती है? यदि नहीं तो इसप्रकारके मनोरंजक छद्मगर्भाभिनयोंका विशेष प्रयोजन क्या?

श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पाञ्चरात्रविधिं विना ।
स्वातन्त्र्येण कृता भक्तिरुत्पातायैव केवलम् ॥

शास्त्रीयसिद्धान्तोंके संरक्षणपूर्वक राष्ट्रका सनातन अभ्युदय ही इन कृत्योंका मुख्य प्रयोजन होना चाहिये । सूतसंहितामें भगवान् शिवने सत्पुरुषोंके प्रति उद्घोषणा की है-

स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः ।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत् ॥

सनातन वैदिकमार्गकी स्थापना हो जाने मात्रसे संसारके सारे उथल-पुथल बन्द हो जायेंगे और सर्वत्र शान्ति ही शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो जायगा ।

सनातनधर्मकी सुदृढ़ आधारशिला शास्त्रीय जन्मना वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था है । इनके कर्त्तव्याकर्त्तव्योंका निर्णय केवल सनातनशास्त्रोंसे ही होता है । मूलतः हमारेलिये एक अत्यन्त विचारणीय विषय है कि पुराणोंके अनुसार भगवान्का कल्कि अवतार कलियुगके आठसौइक्कीस वर्ष शेष रहनेपर विष्णुयश शर्मा नामक किसी ब्राह्मणके घरमें ही होगा, यह निश्चित है । इससे यही सिद्ध होता है कि आनेवाले सवाचारलाख वर्षोंके बाद भी सदाचारनिष्ठ वेदादिशास्त्रसम्पन्न ब्राह्मणका परिवार भगवान्को मिलेगा ही । सनातनधर्म तथा सनातनपरम्पराएँ नित्य हैं, भयंकर व्यतिक्रमके बाद भी सनातन बीजका नाश नहीं होगा वह कहीं न कहीं पूर्ण सुरक्षित रहेगा ही । तब इसकेलिये हम भाग्यशाली ब्राह्मणपरिवार भगवदाराध्या गोमाताकी उपासनामें दत्तचित्तसे संलग्न हो जायँ इससे सम्पूर्ण सनातनविधान सुरक्षित रहेंगे, क्या पता? भगवान् किसके कुलमें अवतरित होकर उन्हें कृतार्थ कर देंगे ।

क्षत्रियकुल भी सनातन वर्णव्यवस्थाके नियन्त्रणमें रहकर कालान्तरमें अपने कुलको कृतार्थ करनेकेलिये भगवान् श्रीराम-कृष्णादिके प्राकट्योत्सवकी प्रतीक्षा करते हुए गवाराधनादि भगवत्प्रिय कार्योंका मनायोगपूर्वक सम्पादन करते रहें। भुशुण्डरामायणके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रका भी पालन-पोषण सरयूपार गोशालामें सुखित नामक एक गोपदम्पतिकेद्वारा हुआ था। वैश्यकुल तो परम भाग्यशाली है ही जिसे वेदादिशास्त्रोंने गोसेवा तथा कृषि आदिका जन्मसिद्ध अधिकार प्रदान किया है, इसीलिये तो सुरभि जिनकी सहचरी है वह श्रीराधारानी **'राधासहचरीं पराम्'** (दे.भा.) कीर्ति-वृषभानुके कुलको तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपराज नन्द-यशोदाके कुलको धन्यता प्रदान करते हैं और सच्छूद्रोंकी प्रशंसामें तो शास्त्रोंके पृष्ठ भरे पड़े हैं जिनकी महनीय सेवा और सतत सहयोगके बिना सनातनधर्मकी किसी भी विधाका संरक्षण और सम्पादन अत्यन्त दुष्कर है, वे भी सनातन व्यवस्था गोसेवा, ब्राह्मणसेवा आदिका सम्यक् पालन करते हुए स्वकर्मके बलपर जन्मान्तरमें द्विजत्वको प्राप्त करके तादृश सौभाग्यका परम लाभ प्राप्त करेंगे ही, ऐसा निश्चित है।

स्वयं आनन्दकन्द, मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने तो यही कामना की है कि-

गावो ममाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

अर्थात् 'गायें मेरे आगे हों, मेरे पीछे हों, गायें मेरे सब ओर हों और मैं गायोंके मध्यमें वास करूँ।'

अब विचार करना है कि जिन वेदादि-शास्त्रोंमें जगदाराध्य श्रीराम-कृष्णादिकेद्वारा भी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक गवाराधन प्रस्तुत किया गया है और पदे-पदे अद्भुत गोमहिमाका गान भी किया गया है, उसी वेदादिशास्त्रमें गायकी वधशाला कैसे सम्भव हो सकती है? वैसा अर्थ भारतीय परम्परासे प्रसूत किसीभी वेदभाष्यकारने नहीं किया है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि गो-शब्दके

अनेक अर्थ हुआ करते हैं। अनेकार्थक शब्दोंके अर्थ-निर्धारक संयोगादियोंमें एक पदार्थ **'औचिती'** हुआ करता है। उसका उदाहरण है **'गौरेका तु मनस्विनः'** यहाँ यह अर्थ उचित नहीं लगता कि मनस्वीपुरुषकी एक ही गाय हुआ करती है', क्योंकि कदाचित् मनस्वीपुरुषकी एक भी गाय न हो, अथवा दो-तीन गायें हों, अतः यह अर्थ यहाँ सर्वथा अनुचित है। प्रकरणानुसार तो यहाँ यही अर्थ है कि- 'मनस्वीपुरुषकी एक ही गौ अर्थात् एक ही वाणी हुआ करती है'। इस अर्थमें औचित्य है- अतः इसे सभी स्वीकार भी करते हैं।

'मृग' शब्द हरिणके अर्थमें प्रसिद्ध है; पर यह केवल विशेष-पशुका नाम न होकर **'पशवोऽपि मृगाः'** (अमरकोष ३।३।२०) इस प्रकार सामान्यपशुका वाचक भी होता है। जैसेकि- **'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति'** (नीतिशतक)। जैसे 'तेल' शब्द तिलके स्नेहकेलिये होता हुआ भी सरसों आदि सब तेलोंकेलिये भी प्रयुक्त होता है। जैसे- 'गोष्ठ' शब्द 'गोस्थान' का वाचक होता हुआ भी **'गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः'**। (५।२।२९) इस कात्यायनप्रोक्त-वार्त्तिकसे सब पशुओंके स्थानका वाचक भी हुआ करता है। वैसे ही 'गो' शब्द यद्यपि 'गााय'के अर्थ में प्रसिद्ध है। तथापि सामान्य 'पशु'के नाममें भी प्रयुक्त हुआ करता है। जैसेकि अमरकोषमें कहा है -

स्वर्गेषु-पशु-वाग्-वज्र-दिङ्-नेत्र-धृणि-भू-जले।
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः.........' ॥ (३।३।२५)

यहाँपर 'गो' शब्द सामान्य पशुवाचक भी माना गया है। **'गौर्वाहीकः'**में भी गोशब्द पशुवाचक है। **'गोमतः'** (ऋ.सं.१।११।५) के भाष्यमें श्रीसायणाचार्यसे प्राचीन भाष्यकार श्रीवेंकटमाधवने भी **'गोमतः'**का अर्थ **'गृहीतपशोः'** किया है। निरुक्तमें भी **'अथापि च गौरिति पशुनाम भवति एतस्मादेव'** (२।५।३) यह कहा है। **'गावः'** ऋग्वेदसंहितामें (१०।१४६।३) श्रीसायणाचार्यने भी 'गावः' का

अर्थ **'गवयाद्या मृगा:'** यह किया है । इसका अन्य प्रमाण भी देखिये । महाभारतके वनपर्वप्रोक्त रन्तिदेवकी कथामें–

'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा' (२०८।९)

यहाँ 'गो' शब्द आया है । उसी रन्तिदेवकी कथा फिर द्रोणपर्वमें भी आयी है । वहाँ यह पद्य है –

उपस्थिताश्च पशव: स्वयं यं शंसितव्रतम् ।
बहव: स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत्सत्रयाजिनम् ॥ (६७।४)

यहाँ 'गो' शब्दके स्थानपर 'पशु' शब्द है । इससे दो बातें सिद्ध होती हैं । एक तो यह कि– रन्तिदेवकी पूर्वकथामें भी 'गो' शब्द 'पशु' वाचक है । दूसरी बात यह कि– 'गो' शब्द पशुका पर्यायवाचक भी हुआ करता है । इसीलिये **'गोयुगच्'** प्रत्ययके **'उष्ट्रगोयुगम्'**, **'गोगोयुगम्'** इत्यादि प्रयोग भी मिलते हैं । नहीं तो उष्ट्रका 'गो' से क्या सम्बन्ध? और 'गो' शब्दके साथ 'गोयुग' का प्रयोग व्यर्थ है । इसी प्रकारसे **'अश्वषड्गवम्'** (५।२।२९) आदि पाणिनि–व्याकरणसे सिद्ध प्रयोग भी जान लेने चाहिये । हितोपदेशमें भी–

'अनेकगो-मानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता:' (मित्रलाभ)

इस व्याघ्रकथाके वाक्यसे भी 'गो' शब्द सामान्यपशुका वाचक ही सिद्ध होता है । मानुषका प्रतिद्वन्द्वी गोशब्द सामान्य पशुवाचक ही है । यदि यहाँ गायका अर्थ इष्ट हो, तो एक शब्द हो विशेष अर्थवाला, दूसरा शब्द हो सामान्य अर्थवाला, तब असंगति पड़ती है । **'गो-ब्राह्मणवधात्'** यह वाक्य होता, तो दोनोंके विशेषवाचक होनेसे 'गो' शब्दका 'गाय' अर्थ संगत था, पर ऐसे वाक्यमें नहीं, तब इसप्रकारके वाक्यमें दोनों शब्द सामान्यार्थक इष्ट होनेसे 'गो' शब्द भी सामान्य पशुका वाचक ही है, यह सिद्ध होता है । फलत: वादियोंसे उपक्षिप्त उक्त वेदमन्त्रमें भी 'गो' शब्द 'पशु'सामान्यका वाचक ही है । विशेष पशु गायवाचक नहीं क्योंकि गाय वेदके मतमें 'अघ्न्या' है, यह पूर्वमें कहा ही जा चुका है, तब वेदप्रोक्त 'विशसन

स्थान'में भी 'गो' शब्द गायसे अतिरिक्त 'पशु'का वाचक ही है, गायका वाचक नहीं। तभी यहाँ श्रीसायणाचार्यने भी यही अर्थ किया है–

'शसने विशसनस्थाने गावो न पशव इव'।

एक भाष्यकारने भी यहाँ ऐसा ही अर्थ किया है– 'हत्या स्थानमें पशुओंके तुल्य वे दुष्टजन भी मरकर इस पृथिवीके ऊपर पड़े हैं।' वधस्थानमें 'पशु' इस सामान्य शब्दके अर्थको छोड़कर 'गाय'– यह विशेष अर्थ करनेसे उपमेय वाक्यमें कोई विशेषता भी तो नहीं हो जाती है। तब वह 'गायका' अर्थ सम्भव भी कैसे हो? इसके अतिरिक्त उक्तमन्त्रमें उपमा है, यहाँ 'न' शब्द उपमावाचक है। उपमासे विधि नहीं बन सकती। 'जैसे कोई पशुवधस्थानमें पशुओंको मारता है' इस अर्थमें वैसी विधि या वैसा व्यवहार वेदको इष्ट नहीं हो सकता। नहीं तो **'जारं न कन्या'**(ऋ.सं.९।५६।३), **'योषा जारमिव प्रियम्'** (ऋ० ९।३२।५) उन उपमाओंसे स्त्रियोंका जार (उपपति) सम्बन्ध भी वेदसम्मत हो जायगा, पर यह किसीको इष्ट नहीं। वस्तुतः उक्तमन्त्रमें युद्धका वर्णन है, यह वादियोंसे प्रोक्त अर्थमें भी स्पष्ट है। तब यहाँ 'शसने'का अर्थ शत्रुपक्षमें 'युद्धस्थल' है। यहाँ उपमा है 'शसने न गावः' इसका यह अर्थ है– जैसे 'शसने'– शिकारगाहमें बाणादिसे मारे गये पशु सो (गिर) जाते हैं, वैसे ही 'शसने' युद्धस्थलमें हे इन्द्र! तुमसे मारे हुए शत्रु भी जिससे सो (गिर) जाते हैं, ऐसा तेरा बाण या शस्त्र कहाँ है? यह अर्थ है। पशुपक्षमें शसनका अर्थ है– 'मृगयाका स्थल' यानी शिकारगाह, जहाँ पशुओंका शिकार किया जाता है। शास्त्रोंमें राजाओंके शिकारका वर्णन भी आता है–

'मृगः स, मृगयुः त्वम्, (अथर्व० १०।१।२६)

इस वेदमन्त्रमें उसका संकेत है। प्रसिद्ध श्रीसत्यनारायणव्रतकथाके पंचम अध्यायमें भी राजा तुंगध्वजका वर्णन–

'एकदा स वनं गत्वा हत्वा बहुविधान् पशून्' (२)

यहाँ आया है । जैसे युद्धमें राजाओंके प्रजाहानिजनक शत्रुओंके मारनेका वर्णन आया है । वैसे ही प्रजाओंके लिये हानिजनक पशुओंके मारनेका वर्णन भी आता है, उसमें दोष भी नहीं माना जाता । इसी कारण महाभारतमें भी कहा गया है-

अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत ! ।
नहि लिप्यन्ति पापेन न चैतत् पातकं विदुः ॥

(अनु. ११६।१८-१९)

तब 'शसने न गावः' यहाँपर 'शिकारगाहमें पशुओंके मारने' का अर्थ है । 'जैसे गोहत्याके स्थानमें गौएँ काटी जाती हैं' इस वादियोंसे कहे जाते हुए अर्थकी यहाँ गन्ध भी नहीं है, क्योंकि गाय शिकारका पशु नहीं है । घातक शत्रुओंका युद्धस्थलमें बाण-अस्त्रसे मारकर सुलाना और घातक पशुओंका शिकारके स्थान वन आदिमें शस्त्र-बाण आदिसे मारकर सुलाना, इन दो उपमान-उपमेय वाक्योंके पूर्णसादृश्यके समन्वय हो जानेसे यही इस मन्त्रका वास्तविक अर्थ है ।

'अनागोहत्या वै भीमा' (अथर्व० १०।१।२९)

इस मन्त्रमें निरपराधकी हत्या भयंकर बतायी गयी है, इससे अपराधीको मारना भयंकर नहीं, किन्तु वेदसम्मत है- यह सूचित किया गया है । आक्षिप्त ऋग्वेदके मन्त्रमें राक्षसका बाणसे शसनस्थान (युद्धस्थल)में मारना सूचित किया है । इसके उपमानवाक्यमें भी राक्षस जैसे घातक पशुओंका शसन (शिकारगाहमें बाण आदिसे मारना) सूचित किया गया है । दैत्य अथवा राक्षसरूप जो भी कोई पशु हो उसका मारना शास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक भी है । इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णका वृषासुर अथवा धेनुकासुर आदि दैत्योंका मारना, तथा भगवान् श्रीरामका मारीच-मृग आदि राक्षसोंका मारना । कुछ अन्य भाष्यकारोंकेद्वारा अपने भाष्यमें क्षेत्रविनाशक तथा हिंसक नीलगाय आदिको मारना भी लिखा गया है ।

उक्त मन्त्रमें उपमानोपमेय भावकेद्वारा पूर्णोपमालंकारकी सब पूर्णता सिद्ध हो गयी । तब गायके राक्षसपशु न होनेसे 'शसन' यह गायकी वधशाला नहीं मानी

जा सकती, किन्तु बाघ, भेड़िया आदि राक्षसपशुओंके मारनेका शिकारगाह ही यहाँ सिद्ध हो रहा है। यद्यपि उपमेय वाक्यमें 'रक्ष:' एकवचन है और उपमान वाक्यमें 'गाव:' बहुवचन है; तथापि पशुवाचक 'गो' शब्दके जातिवाचकशब्द होनेसे **'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'** (पा० १।२।५८) इस सूत्रसे एकवचनमें भी पाक्षिक बहुवचन हुआ करता है, अत: इसमें **'प्राणा इव प्रियो मेऽसौ'** की भाँति कोई दोष नहीं।

फलत: यहाँ घातक व्याघ्र आदि पशुओंको मारना वेदके मतमें भीषण न होनेसे इसमें कोई दोष नहीं पड़ता। तब वैसे ही उक्त-मन्त्र **'शशने न गाव:'** में सामान्य पशु यहाँ इष्ट है, गाय नहीं। तब यहाँ कोई भ्रम भी नहीं हो सकता। जब ऐसा है; तब 'इस मन्त्रका रचनाकाल गोवध-निषेध करनेवाले मन्त्रोंसे प्राचीन है, यह आक्षेप भी परिहत हो गया। क्योंकि 'अघ्न्या' यह गायका नाम वेदकालीन है, पाश्चात्य नहीं। जब वेद गायको- **'अघ्न्या (अहन्तव्या), अदिति (अखण्डनीया)** (यजु:० ८।४३) बताता है; तब वहाँ गायकी वधशाला कैसे इष्ट हो सकती है? वह तो **'गावो गोष्ठे असदन्'**(ऋ० १।१९१।४) गौओंका गोशालामें वर्णन कर सकता है, वधशालामें नहीं। यदि वादियोंसे प्रोक्त अर्थको इसी प्रकार मान लिया जाय, तो वहाँ गोवधशाला भी राक्षसकी इष्ट हो सकती है, अर्थात् जैसे राक्षससे वधशालामें मारी हुई गौएँ पृथिवीमें सो जाती हैं, वैसे ही उसके बदलेमें इन्द्रसे मारे हुए राक्षस भी पृथिवीमें जिससे सो जाते हैं, हे इन्द्र! इस प्रकारका तेरा अस्त्र कहाँ है? इस अर्थसे गोवध करना राक्षसीव्यवहार सिद्ध किया गया है। न यह मनुष्योंका है, न देवता एवं धर्मात्माओंका। प्रत्युत देवताओंके राजा इन्द्र तो उसके प्रतीकारमें राक्षसोंको मार दिया करते हैं। इस प्रकार गोवध करनेवाले राक्षसोंको मार डालना चाहिये- इससे यही प्रतीत होता है। जैसेकि- **'यदि नो गां हंसि......तं त्वा सीसेन विध्याम:'** (अथर्व.सं. १।१६।४)

इस मन्त्रमें गोवध करनेवाले राक्षसको गोली मारदेना कहा है । तब यह विधिवाक्य सिद्ध न हुआ । अत: इससे वादियोंकी इष्टपूर्ति भी नहीं हो सकती । फलत: वेदकालमें गोवध इष्ट नहीं, इसीका भाष्यभूत वचन महाभारतमें कहा है-

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥
(शान्ति. २६२।४६)

पुन: गौ तो विश्वकी माता है **'गावो विश्वस्य मातर:'** भला इसका वध कौन करेगा? वेदमें कहा गया है कि-

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव ।
वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥
(अ.सं. १०।१०।१८-१२।४।१३)

गौ क्षत्रियकी माता है, गौ आत्मिक शक्तिवाले ब्रह्मतेज:सम्पन्न ब्राह्मणोंकी माता है । यज्ञ गौका शस्त्र है, इसीसे जनतामें चेतना हुई है ।

क्षत्रिय लोगोंकी माता गौ ही है, इसलिये क्षत्रियोंके लिये यह पूजनीय है, फिर भी इस मातृवत् पूजनीय गौका वध वे कैसे कर सकते हैं और अपनी ही माताका वध करके उसके मांसका सेवन कैसे कर सकते हैं? आत्मशक्तिका धारण करनेवाली स्वधामयी ब्राह्मणजातिकी भी माता गौ ही है । इसलिये ब्राह्मणोंकेलिये भी गौ मातृवत् पूज्या है इस कारण ब्राह्मण भी गोवध कर नहीं सकते और ना ही गोमांस खा सकते हैं । कृषि तथा गोरक्षा आदि करनेवाले वैश्य तो स्वकर्तव्यसे ही गोरक्षक हैं, वे तो कभी गोवध कर नहीं सकते । अर्थात् इस प्रकार त्रैवर्णिक गौको माता मानते हैं, इसलिये इनसे गोवध होना सर्वथा असम्भव है ।

कई लोग यहाँ शंका करेंगे कि इस सूक्तके मन्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका उल्लेख करके उनकी माता गौ है- ऐसा कहा है, परन्तु चतुर्थवर्ण का उल्लेख इसमें नहीं है । इसलिये गौ इनकी माता नहीं है तो क्या यह गौका मांस खा

सकता है । इस विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन है, परन्तु संक्षेपसे इतना कहना आवश्यक है कि इस समयमें भी गाय, बैल आदिके मृत शरीरके मांसको खानेवाली जातियाँ अन्त्यजोंमें हैं । इसीलिये उनको 'वृष-ल' अर्थात् 'बैलके शरीरको काटनेवाली जाति' कहा जाता है । वृषल शब्द इसी जातिका वाचक है, परन्तु पश्चात् यह शब्द 'धर्महीन' गोभक्षकका वाचक माना गया और सब धर्महीन गोभक्षकोंके लिये कहा जाने लगा । वास्तवमें मृत गौ अथवा मृत बैलके शरीरको काटकर उस शवका मांस खानेवालेका वाचक यह 'वृष-ल' ('लूञ् छेदने'से वृषं गोवंशं लूनाति छिनत्ति इति वृषलः) शब्द है । जो लोग इस प्रकारके मांसभक्षणको त्याग देते थे और त्रैवर्णिक द्विजोंके साथ रहना पसन्द करते थे उनकी गिनती सच्छूद्रोंमें होती थी और वे गोरक्षक बनकर त्रैवर्णिकोंके सत्संगमें सम्मिलित होते थे । परन्तु जिन्होंने गोमांसभक्षण नहीं छोड़ा, वे इस समय तक बहिष्कृत ही रहे हैं । पाठक इससे जान सकते हैं कि वैदिकधर्ममें गोरक्षाके विषयमें कितनी विशेष तीव्रभावना है और यह कितनी प्राचीनकाल से चली आयी है।

इस मन्त्रमें 'गौका आयुध यज्ञ है' ऐसा कहा है । इससे भी सिद्ध होता है कि यज्ञका उपयोग करनेवाली गौ है, 'शूरका यह यज्ञ आयुध है' । ऐसा कहनेसे उस आयुधकेलिये शूरका (गौका) वध करना चाहिये ऐसा कोई मानता नहीं, क्योंकि वैसा मानना अयोग्य है । आयुधका उपयोग शूरवीर करते हैं । इसी प्रकार यज्ञरूपी आयुधका उपयोग गौ करती है, यज्ञमें अपना दूध, घी आदि अर्पण करके देवों तक पहुँचाती है । इसलिये यज्ञमें गोवध अभीष्ट नहीं है यह बात इस वचनसे भी स्पष्ट हो जाती है ।

'यज्ञसे जनतामें चेतना उत्पन्न हुई' यह कथन मनन करनेके योग्य है । जनतामें राष्ट्रकर्तव्योंकी जागृति यज्ञके कारण उत्पन्न हुई, जनतामें संगठन हुआ, जनताका एकीकरण हुआ, सब मिल-जुलकर रहने लगे और सबलोग समष्टिकी भलाई करनेमें तत्पर हुए, यह यज्ञका कार्य इस मन्त्रभाग में वर्णित है । यज्ञका यही महत्त्व है । यज्ञसे बहुत लाभ होते हैं, उनमें यह एक है ।

३

बृहदारण्यकमें बैलका मांस विहित नहीं है

बृहदारण्यकमें वृषभके मांसका वर्णन कई लोगोंके मतमें है- अब उसपर विचार किया जाता है। **कई महाशयोंका विचार है कि- बृहदारण्यकोपनिषद्की -**

'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः सुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा ऽऔक्षेण वाऽऽर्षभेण वा' (६।४।१८)

इस कण्डिकामें बैलके मांसको पकाकर खानेसे दम्पति का वेदवक्ता विद्वान् पुत्र उत्पन्न होना कहा है।' यह मत भी ठीक नहीं। यहाँ 'मांसौदन' शब्द और इसके अन्तमें 'उक्षा' और 'ऋषभ' ये बैल-वाचक शब्द भी हैं। इससे सनातन परम्परासे अनभिज्ञ लोग अनुमान कर लेते हैं कि गाय या बैलके मांसका भक्षण करनेवालेको चारों वेदोंका वक्ता पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि इस ब्राह्मणवाक्यका यही तात्पर्य होता तो अहिन्दुओं एवं तथाकथित समाजसुधारक गोविरोधियोंके यहाँ भी वेदवक्ता ही उत्पन्न होते, परन्तु वैसा कहीं भी देखनेकेलिये नहीं मिलता। इसलिये वेदोंमें गोवंश मात्रकेलिये 'अघ्न्य' या 'अघ्न्या' पदको सामने रखकर ही तत्सम्बन्धी वेदवाक्योंका अर्थविचार करना उचित होगा।

अर्थका सम्यक् विचार उसके प्रकरणसे ही हो सकता है, प्रकृत प्रकरण यह है कि-

गोरक्षण सनातनधर्मका एक अनिवार्य अंग है। वेदके अनेक स्थलोंमें गाय-बैलको 'अघ्न्या' एवं 'अघ्न्य' कहा है- जिसका अर्थ है- न हनन करने योग्य। तब उपनिषद्रूप वेदमें भी बैलके मांसका प्रसंग कैसे आ सकता है? बिना

हननके उनका मांस प्राप्त नहीं हो सकता; और हनन करनेसे 'अघ्न्य' नामका व्याकोप होता है; अतः बृहदारण्यकके उक्त वचनमें वृषभमांसके अर्थका कोई भी प्रसंग नहीं । इसके अतिरिक्त उक्त वचनमें **'औक्षेण वा आर्षभेण वा'** यहाँका 'वा' शब्द इन पदार्थोंको एक-दूसरेसे पृथक् कर रहा है । तब केवल बैलका ही अर्थ कैसे किया जा सकता है? 'उक्षा' भी यदि बैलका और 'ऋषभ' भी बैलका नाम है, इसलिए ही एकमात्र बैलका अर्थ किया जाता है; तो फिर यहाँ यह क्यों नहीं विचारा जाता कि यहाँ दो पर्यायवाचक शब्दोंको रखकर पुनरुक्तिदोष क्यों उत्पन्न किया गया है? पृथक्ताका वाचक 'वा' शब्द भी यहाँ है- यह क्यों नहीं विचार किया जाता है? यदि छोटे-बड़े बैलका अर्थ करके पुनरुक्ति हटायी जाय यह भी ठीक नहीं । छोटे-बड़े वृषभके मांसकी कोई विशेषता भी तो नहीं कही गयी और फिर ऐसा अर्थ करनेपर **'देहि मे वाजिनं राजन्! गजेन्द्रं वा मदालसम्'** इस प्रकार दुष्क्रम दोष जा पड़ेगा । पहले बड़े (ऋषभ) फिर उसके न मिलनेपर छोटे (उक्षा)का ग्रहण उचित होता और यह भी विचारनेका कष्ट नहीं किया गया है कि इस कण्डिकाके साथवाली कण्डिकाओंमें भी किसी मांसका निरूपण है या नहीं ।

१४वीं कण्डिकामें **'य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै'**

शुक्लवर्णवाले एक वेदके वक्ता पुत्रकी उत्पत्तिकेलिये दूधमें ओदन पकाकर घीके साथ खाना कहा है ।

१५वीं कण्डिकामें **'अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिंगलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम् ईश्वरौ जनयितवै'**

दो वेदके वक्ता और कपिलवर्णके पुत्रकी उत्पत्तिकेलिये दहीमें ओदन पकाकर घृतके साथ खानेको कहा है ।

१६वीं कण्डिकामें तीन वेदके वक्ता श्यामवर्ण पुत्रकी उत्पत्तिकेलिये **'अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदान् अनुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तम् अश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै'**

उदकमें ओदन पकाकर घृतके साथ खानेकेलिये कहा है । इनमें दूध, दही, जल इन तीन तरल-पदार्थोंमें ओदनका पकाना कहा है । घीको सभी स्थानमें कहा है ।

१७वीं कण्डिकामें बुद्धिमती पुत्रीकी उत्पत्तिकेलिये **'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै'**

तिल-चावल पकाकर घृतके साथ खानेको कहा है ।

प्रकृत १८वीं कण्डिकामें सर्ववेदवक्ता पुत्रकी उत्पत्त्यर्थ 'मांसौदन' पकाकर खाना कहा गया है । यहाँ पूर्वोत्तर-साहचर्य देखनेपर मांसका ओदनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता । पहले एक वेदके वक्ताकेलिये ओदनका दूधमें, दो वेदके वक्ताकेलिये ओदनका दहीमें, तीन वेदके वक्ताकेलिये ओदनका गंगादिके जलमें घृतसहित पकाना कहा है । यह तीनों तरल तथा परस्पर-सम्बद्ध वस्तुएँ हैं । १७वीं कण्डिकामें पुत्रीकी बुद्धिमत्ताकेलिये तिल और तण्डुल दोनोंका पकाना कहा है । यहाँ तिल धान्यविशेष है । तब १८वीं कण्डिकामें पुत्रके पाण्डित्यकेलिये मांस भला प्रकृत कैसे हो सकता है? पहले दूध, दही, और उनका जल परस्पर सम्बद्ध थे, परन्तु वहाँ तिलके साथ मांसका क्या सम्बन्ध? मांस भी यहाँ आगे-पीछेके साहचर्यके अनुसार कोई धान्य ही होना चाहिये । 'औक्षेण', 'आर्षभेण' ये पद तृतीयान्त हैं; इन दोनोंका विशेष्य 'मांस' यहाँ हो भी नहीं सकता, क्योंकि- मांसमें तृतीया नहीं । विशेषण-विशेष्यका समान-विभक्तिकाका नियम हुआ करता है । उस विशेष्यका दूसरे पदके साथ समास भी सम्भव नहीं । यह भी विचारणीय है कि

'मांसौदनम्' में समाहार-द्वन्द्व है । मांसका 'मांस' अर्थ करनेपर समाहार-द्वन्द्व नहीं हो सकता । 'तिलौदनम्'में तो **'विभाषा वृक्षमृगतृण-धान्य-व्यञ्जनपशु- शकुन्यश्व वडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्'** (पा० २।४।१२) इस सूत्रसे 'व्रीहियवम्' की भाँति दोनोंके धान्य होनेसे समाहारद्वन्द्व हो जाता है; पर 'मांसौदनम्'में तो मांस कोई धान्य नहीं; अतः समाहारद्वन्द्व भी सम्भव नहीं । पर यदि यहाँ मांस कोई 'धान्य' सिद्ध हो जाय, तो अब संगतियाँ लग जायेंगी । वह संगति यह है कि-

अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम् ।
पितरस्तेन तृप्यन्ति श्राद्धं कुर्यान्न तद्विना ॥
यथा बलिष्ठं मांसत्वान्माषान्नमपि तत्समम् ।
सौगन्धिकं च स्वादिष्ठं मधुरं द्रव्यभेदतः ॥ (१५२-१५३)

प्रजापतिस्मृतिके इस प्रमाणसे 'मांस' का अर्थ 'माष' यह धान्य-विशेष भी होता है; क्योंकि मांसल (पौष्टिक) पदार्थ भी **'अर्श आदिभ्योऽच्'** (पा० ५।२।१२७) इस सूत्रसे 'मांस' शब्दसे अच् प्रत्यय करनेपर 'मांस' शब्दसे कहे जा सकते हैं । इसी कारण स्वयं बृहदारण्यकमें दस ग्राम्यधान्योंके निरूपणके अवसरमें **'व्रीहियवाः'**, **'तिलमाषाः'** (६।३।१३) यहाँ तिलके बाद माष लिया गया है । पूर्वोक्त समाहारद्वन्द्वकी वैकल्पिकताके कारण यहाँ एकवचन न होकर इतरेतरयोगमें बहुवचन हो गया है । इस प्रकार मांसौदनमें भी समझ लेना चाहिये । तब यहाँ मांससे माषका ग्रहण हो जानेसे सब संगतियाँ लग जाती हैं । तब कुछ गोविरोधी विद्वान् महाशयका 'मांषौदनम्' यह पाठ बदलदेना अनधिकारचर्चा है । जब उक्त प्रमाणसे मांस शब्दका 'माषधान्य' अर्थ भी हुआ ही करता है, तब पाठपरिवर्त्तनकी आवश्यकता क्या?

तात्पर्य यह है कि माष और चावलोंको घृताक्त पकाकर उनको उक्षा अथवा ऋषभके स्वरसके साथ खानेवाले दम्पतियोंका उक्त गुणोंवाला पुत्र उत्पन्न होता है ।

माषकी खीर महापौष्टिक तथा वाजीकरण हुआ करती है । तब उसका वर्णन पुत्रोत्पत्तिके प्रसंगमें यहाँ प्रकृत भी है ।

अब उक्षा तथा ऋषभका अर्थ भी विवेचनीय है । **'औक्षेण वा आर्षभेण'** यहाँ दो बार कहे हुए 'वा' शब्दसे यह तो सिद्ध हुआ कि ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । बैल अर्थ करनेपर संगति नहीं बैठती । उपवेद आयुर्वेदमें 'उक्षा' यह सोम ओषधिका नाम है । श्रीसायणाचार्यने भी (ऋ.सं. **१।१६४।४३**) मन्त्रके भाष्यमें उक्षाका अर्थ लिखा है **'सोम उक्षाऽभवत्'** यहाँ उक्षा सोमका नाम कहा गया है । 'ऋषभ' यह ऋषभक ओषधिका नाम है । वृषभ अर्थवाले शब्द उस ओषधिके पर्यायवाचक हुआ करते है । यह ओषधि हिमालयके वनोंमें प्राप्त होती है । वृषभके सींगकी भाँति होती है । इसके पत्ते छोटे-छोटे होते हैं । यह बल-बुद्धि को बढ़ानेवाली होती है, वात एवं क्षय आदि दूर करती है । जैसेकि अथर्ववेद संहितामें कहा है-

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व, सा प्रसूर्धेनुका भव' ॥ (३।२३।४)

यहाँ ऋषभ ओषधिके सेवनसे पुत्रकी प्राप्ति सूचित की गयी है । निघण्टुरत्नाकरादिमें इसके गुण बताये गये हैं-

ऋषभो मधुरः शीतो गर्भसन्धानकारकः ।
शुक्रधातुकफानां च कारको बलदायकः ॥
वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः पित्तरक्तातिसारजित् ।
रक्तरुक्कृशता-वात-ज्वर-दाह-क्षयापहः ॥

ये दोनों ओषधियाँ वाजीकरण होनेसे बल बढ़ाने, आयु बढ़ाने और वीर्य उत्पन्न करने तथा मेधावी पुत्र उत्पन्न करनेमें अद्भुत शक्ति रखती हैं । तब उक्त घृताक्त मांसौदन उक्त ओषधियोंमें एकके चाहे सोमरस हो, अथवा यदि वह न मिले, तो वृषभके स्वरसके साथ देनेसे वैसा पुत्र हो सकता है । यह उक्त

कण्डिकाका अर्थ है । इस अर्थमें दुष्क्रमदोष भी नहीं रहता । सोमरसको पहले इसलिये रखा है कि उसका सम्बन्ध यज्ञसे तथा यज्ञविषयक वेदसे है –

सोमवल्ली कटु:शीता मधुरा पित्तदाहनुत् ।
तृष्णाविशेषशमनी पावनी यज्ञसाधनी ॥ (राजनिघण्टु)

यहाँ पर सर्ववेदवक्ता पुत्र उत्पन्न करना था । ऋषभका गुण भावप्रकाशमें–

'जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ ।'(पू. १म.)

यह कहा है । बैलका अर्थ यहाँ इष्ट भी नहीं है, इसमें कारण यह है कि बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथको उपजीवित करती है । शतपथब्राह्मणके **'तद्ध एतत् सर्वाश्यमेव, यो धेन्वनडुहयोरश्नीयादन्तगतिरिव तग्गूंहाद्भुतमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकदिति पापी कीर्तिस्तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'** (३।१।२।२१)

इस वचनसे गाय–बैलके भक्षकको सर्वभक्षी, पापी और गर्भघातक कहकर जब निन्दित किया गया है, तब शतपथब्राह्मण इस अवसरमें बैलका मांस कैसे कह सकता है? इसप्रकार शतपथका अनुसरण करनेवाली बृहदारण्यकोपनिषद्को भी यहाँ ओषधिविशेषका स्वरस इष्ट है, बैलका मांस नहीं । यदि यहाँपर बैलके खानेसे वेदवेत्ता बालक उत्पन्न होता है, तब उसके भक्षक गोविरोधी अहिन्दु ही सर्ववेदवक्ता होते, भारतीय हिन्दु नहीं । पर यह अनुभवसे भी विरुद्ध है, इस कारण यहाँ यह अर्थ भी नहीं । आशा है, पाठकोंने यह सब हृदयंगम कर लिया होगा । यद्यपि कई विद्वान् भाष्यकारोंने इस कण्डिकाका मांस सम्बन्धी अर्थ किया है, उसका कारण यह है कि मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा आरण्यकके वेद होनेसे–

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिँश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ (५।४४)

इस मनुवचनके अनुसार उन्होंने वेदोक्त हिंसाको भी अहिंसा समझकर उक्त विषयमें पूर्वापरकी संगतिसे विशेष प्रसारण नहीं किया, क्योंकि उनके कालमें गोवंशके प्रति स्वाभाविक ही लोगोंका पूज्यभाव था । अतः हमने तो वेद, महाभारत आदि सभीके पूर्वापरकी संगतिसे उत्पन्न उक्त अर्थ किया है । अतः यह अवश्य ही ग्रहण करनेयोग्य है । मांसके विषयमें हम पूर्वमें विवेचना दे चुके हैं । उक्त कण्डिकासे मांससे माषका ग्रहण इष्ट है अथवा वहाँ मांसका अर्थ मांस ही माना जाय, तो इसपर भी विचार कर लेना चाहिये कि खाये-पिये हुये पदार्थो का पहला परिणाम (१.) रस धातु बनता है, और दूसरा परिणाम (२.) रुधिर धातु बनता है । रुधिर गाढा होकर तीसरा परिणाम (३.) मांस होता है, मांससे (४.) वसा (चर्बी) बनती है । चर्बी कठोर होकर (५.) हड्डी बन जाती है । हड्डीसे (६.) मज्जा और मज्जासे (७.) वीर्य बनता है । जिस प्रकार यह परिणाम मनुष्यके शरीरमें होता है, इसी प्रकार वृक्ष, फल, कन्द, मूल आदिमें भी वैसा ही परिणाम होता है । इसलिये उनके नाम भी वही होते हैं । आप आमके फलको ही ले लीजिये, इसके ऊपरके हिस्सेको पशु, मनुष्य आदिके ऊपर त्वग्भागकी तरह त्वचा ही कहा जाता है । पशुको काटने पर उसकी ऊपरकी त्वचा फेंक देनी पड़ती है, तो आमको भी काटकर उसकी ऊपरकी त्वचा फेंक देनी पड़ती है । उसका जो रेसा निकलता है वह रस ही तो कहा जाता है । अब जो उसका बीचका गूदा है, वही तीसरा परिणाम मांस है, उसीकी कठोर वसा गुठली बन जाती है, उसे अस्थि कहते हैं । जैसेकि- श्रीबाणभट्ट की कादम्बरीमें आश्रमके वर्णनमें-

‘शिला-सकलप्रहारसंचूर्णिताऽऽक्षाऽस्थिसञ्चयम्’

यहाँ बहेड़ेकी गुठलीको ‘अस्थि’ कहा गया है । इस विषयमें हम अन्यत्र अन्य प्रमाण भी देंगे । जैसे खाने-पीनेका व्यवहार मनुष्योंमें होता है, वैसे वृक्षोंमें भी होता है । वृक्ष आदि भी खाते-पीते हैं । जैसे वृक्षादि या गेहूँ आदिमें जिसे ‘खाद’ डालना कहते हैं, वह उस वृक्षका खाद्य भोजन है । तो जैसे खाद्यका परिणाम

मनुष्योंमें होता है, वैसे वृक्ष, फल, घास, ओषधि आदिपर भी खादका परिणाम होता है । तब अब जबकि बृहदारण्यकके गर्भाधानमें **'मांसौदनं पाचयित्वा'** मांस शब्द है, तो वहाँ ओषधि या फलका तृतीय परिणाम मांस है, जिसे गूदा कहा जाता है । उसे भातके साथ मिलाकर भी डालकर खाये तो सर्ववेदका वक्ता पुत्र उत्पन्न होगा, यह अर्थ हुआ । वृक्ष आदिके जो कच्चे फल हैं, उन्हें खाना तो कुछ हिंसा है । पर पके फल जो हैं वे आगे नहीं बढ़ते, उनका खाना हिंसा नहीं होता; वह ऐसा है, जैसे किसीका बढ़ा हुआ बाल या नाखून क्षुर आदिसे काट लिया जाय, इससे उस पुरुषको दुःख नहीं होता, वैसे ही पके हुए फलको काटनेसे वृक्षको भी दुःख नहीं होता । तब उस फलके भी बीचवाले भाग मांसरूप गूदाके खानेसे न कोई हिंसा है; न पशु-मनुष्य अदिके मांसादिकी भाँति अपवित्रता है; उसके वाजीकरण तथा पवित्र एवं बुद्धिवर्धक होनेसे उससे युक्त ओदनका अशन जहाँ गर्भ करता है, वहाँ उस आहित गर्भसे वेदका ज्ञाता पुत्र भी उत्पन्न होता है- वहाँ यही तात्पर्य है । बृहदारण्यकमें उसी मांसका तात्पर्य है । अपवित्र मांसका तात्पर्य नहीं; क्योंकि- उसका वेद-ज्ञातृत्वसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं । **'औक्षेण वा आर्षभेण वा'**में हम लिख चुके हैं कि ये ओषधियोंके नाम हैं; वाजीकरणवाली ओषधियोंके नाम भी अश्व-ऋषभ आदि कहे जाते हैं । जैसे असगन्ध है, उसका नाम अश्वगन्धा या अश्वा भी आता है । मदनपाल-निघण्टुमें जीवक-ऋषभक ओषधियोंके नामोंमें ऋषभ, और वृषभ ये नाम आते हैं । इनमें बल-बुद्धिको बढ़ाना प्रधानगुण होता है, इसलिए ये 'वाजीकरण' माने जाते हैं । 'बांसा' ओषधिका नाम भी वृष और वृषभ आता है । इसकी चढ़तीदशा-तरुणावस्थामें इसे 'उक्षा' कहा जाता है और परिपक्व-दशाका नाम वृष या वृषभ कहा जाता है । गर्भाधानके समय ऐसी बल-बुद्धिवर्धक ओषधियोंका सेवन एवं वाजीकरण हो जानेसे पुंसन्तान उत्पन्न करनेवाला तथा मस्तिष्कवर्धक होनेसे सर्ववेद-वक्ता पुत्र उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हो जाता है । आयुर्वेदमें जहाँ वाजीकरणका वर्णन मिलता है वहाँ मांसका नाम नहीं

मिलता है । जहाँकी बात होती है, वहाँ भी मांसका नाम नहीं मिलता; किन्तु इन अवसरोंपर दुग्ध-घृत एवं ओषधियोंके ही बहुत से योग मिलते हैं; इससे प्रतीत होता है कि- उनमें मांसको वाजीकरणगुणवाला तथा बुद्धिप्रद नहीं माना जाता । लोकमें मांससे 'मांस' बढ़ना माना जाता है; वीर्य अथवा बुद्धि बढ़ना नहीं । तो बृहदारण्यक या शतपथके प्रकृत गर्भाधान-प्रकरणमें उक्षा-वृषभ आदि शब्दोंसे उन्हीं ओषधियोंके ही गूदेका 'मांस' शब्दसे वर्णन इष्ट है; क्योंकि- वे वाजीकरण होनेसे, शुक्रको गाढ़ा कर देनेसे तथा बुद्धि-मस्तिष्कके वृद्धिकारक होनेसे बल, वीर्य तथा विद्याशाली पुत्रोंके उत्पादनकी क्षमता रखते हैं । तब बृहदारण्यकके आक्षिप्त प्रमाणवाक्यमें भी ओषधियोंके गूदेका अर्थ विवक्षित होनेसे अब उसमें बैलके मांसका भ्रम सबको हटा लेना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त शतपथब्राह्मणके अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् अध्यात्मविद्याका सर्वोच्च ग्रन्थ है, इस ग्रन्थकेद्वारा सर्वात्मभाव, सर्वभूतमें समदृष्टि, आत्मवद्भाव होनेके पश्चात् वह आत्मज्ञानी पुरुष सुन्दर पुत्रकी उत्पत्तिकेलिये सर्ववन्द्या गौको ही काटकर उसका मांस स्वयं खायेगा, यह सर्वथा असम्भव है । अध्यात्मज्ञान होनेके पश्चात् विशिष्ट गुणयुक्त सात्त्विक पुत्रको उत्पन्न करना तो वैदिकतत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जन्मसे सत्संस्कारसम्पन्न सन्तान उत्पन्न करनेकी यही शास्त्रीय रीति है । इसलिये अध्यात्मज्ञानीके विषयमें सर्वपूज्य त्रयस्त्रिंशत्कोटि देवताओंका आश्रय गोवंशका मांसभक्षण जैसे क्रूरव्यवहारकी सम्भावना ही असम्भव है । अतः यहाँपर उक्षा और ऋषभका वनस्पतिविषयक अर्थ लेना ही सुसंगत है ।

वसिष्ठस्मृति एवं शतपथका अतिथि-सत्कार

बहुतसे पाश्चात्य-विद्वान् या पाश्चात्यानुयायी भारतीय भी यह सिद्ध करनेका बहुधा कुप्रयास किया करते हैं कि 'प्राचीन भारतमें या वैदिककालमें अतिथि-सत्कारके समय गोवध हुआ करता था, तभी अतिथिको 'गोघ्न' कहा जाता है । शतपथब्राह्मणमें भी स्पष्ट कहा है- **'यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा, महोक्षं वा, महाजं वा पचेत्, एवमस्मै एतदातिथ्यं करोति'** । (३।४।१।२)

यही बात वसिष्ठस्मृतिमें भी कही गयी है- **'अथापि ब्राह्मणाय वा, राजन्याय वा, अभ्यागताय महोक्षं वा, महाजं वा पचेत्; एवमस्य आतिथ्यं कुर्वन्ति ।'** (४।८)

इसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण में भी कहा है- **'यथैव अदो मनुष्यराजे आगते, अन्यस्मिन् वा अर्हति (प्रशंसनीये आगते) उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते ।'** (१।१५)

'गोघ्न:'का अर्थ है **'गां हन्ति अस्मै'** । **'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** । (पा. ३।४।७३) इस वेदांग व्याकरणके सूत्रसे उक्त शब्दकी सिद्धि हुआ करती है । अनधिकारियोंने उक्त वैदिक वाक्योंका यह अर्थ किया है कि- 'ब्राह्मण या क्षत्रियराजारूप अतिथिकेलिये बड़ा बैल या बड़ा बकरा पकाये । अत: जब वेद आदि भी ऐसा कहते हैं तब आजकलकी सरकारको गोवध रोकनेकेलिये बाध्य करना शासनके कार्यमें अव्यवस्था लाना है ।' पाश्चात्योंके ऐसे बड़े आक्षेपने हम पौरस्त्य विद्वानोंको भी अचम्भित कर रखा है ।

वास्तवमें विज्ञानपूर्ण पारम्परिक वैदिकशिक्षा-दीक्षासे विहीन खड़े-खड़े मूत्रविसर्जन करनेवाले ये नास्तिक बाबूलोग वेदादिशास्त्रोंके महनीय गूढ़ातिगूढ़ भावको क्या जानें? ये तो अनधिकृत रूपसे वेदादिशास्त्रोंके पवित्र भावोंका अनर्थ करके उच्चतम भारतीय संस्कृति-सभ्यताको गहरे गर्त्त में डाल चुके हैं । किसे कहा

जाय? इससे भी भयंकर महानास्तिक तो वे लोग हैं जो वैदिकमर्यादाओंसे कोशों दूर रहते हुए भी वेद, उपनिषद्, रामायण, गीता, पुराण आदिका नाम बोल-बेचकर सम्पूर्ण आधुनिक सुख-सुविधाओं का केवल भोगप्राप्त करनेमें ही संलग्न बने रहते हैं, ऐसे धर्मोपदेशकोंसे श्रीराम-कृष्णादिकेद्वारा सेवित और पालित इस धर्मप्राण भारतराष्ट्रको स्वयं भगवान् ही बचायें ।

अब हम प्रकृत विषयपर कुछ विचार करना चाहते हैं । हमें तो पूर्वोक्त अर्थमें कोई शास्त्रीय अथवा लौकिक संगति भी नहीं दिखायी पड़ती । एक आगन्तुक अतिथि बड़े बैल अथवा बड़े बकरेको खा जाय यह सम्भव नहीं दिखायी पड़ता और अतिथिके आने पर हर समय बड़े बैल किसीके घरमें हो भी नहीं सकते । क्योंकि अतिथि प्रायः आते-जाते रहते हैं, इतने सांड प्रतिदिन कहाँसे आ सकते हैं । यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि वसिष्ठस्मृतिमें उक्त वचनसे पूर्व **'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः'** यह वचन आया है, इसमें प्राणीका वध स्वर्गप्रद नहीं माना है । तब इसके बाद ही सहसा बड़े बैलको पकाना कैसे कहा गया है? **'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः'** का उपसंहार **'तस्माद् यागे वधोऽवधः'** से हो भी नहीं सकता, क्योंकि यह असंगति स्पष्ट है । मनुस्मृतिके ऐसे ही **'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः'** पद्यके चतुर्थपादमें **'तस्मान्मांसं विवर्जयेत्'** पाठ है, वह संगत भी है । वस्तुतः वसिष्ठका उक्त वचन शतपथब्राह्मणके उक्त वचनपर अवलम्बित है, और शतपथब्राह्मण याज्ञवल्क्यसे प्रोक्त है, तब शतपथके वाक्यका अर्थज्ञान भी याज्ञवल्क्यको ही हो सकता है । वही याज्ञवल्क्यने सूर्यसे शतपथब्राह्मणको प्राप्त करके फिर अपनी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' बनायी **'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन् मुनीन्' १।२**। तब याज्ञवल्क्यस्मृतिको भी देख लेना चाहिये, कदाचित् ऋषिने उस अपने वाक्यका तात्पर्य उसी अपनी स्मृतिमें दिया हो । याज्ञवल्क्यस्मृतिमें श्रोत्रिय अतिथि के सम्मानार्थ यह पद्य आया है-

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् ।
सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः ॥ (१।५।१०९)

इसकी व्याख्या मिताक्षरामें कही है–

'महान्तमुक्षाणं धौरेयं, महाजे वा श्रोत्रियाद्य उपकल्पयेत्- 'भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पितः' इति तत्प्रीत्यर्थम्, यथा- 'सर्वमेतद् भवदीयमिति' न तु दानाय व्यापादनाय वा, प्रतिश्रोत्रियमुक्षाऽसम्भवात्, 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु' इति निषेधाच्च । तस्मात् सत्क्रियाद्येव कर्तव्यम्' ।

अभिप्राय यह है कि श्रोत्रिय (वेदादिशास्त्रोंका सदाचारी विद्वान् जो जन्मना ब्राह्मण हो) अतिथि किसीके घरमें आ जाय तो यह कहकर कि– महाभाग! यह बड़ा बैल या बड़ा बकरा आपका ही है' इस प्रकार उसका सत्कार करे, क्योंकि उस समयका यही धन था । इसीसे उसका समर्पण करना कहा है । मिताक्षराका यहाँ कहना है कि यह वाचिकसत्कार प्रकटकरना मात्र है, उस बड़े बैलका उस क्षत्रियको न तो दान देना इष्ट है, न उसका मारना । इसमें श्रीविज्ञानेश्वर एक सुन्दर उपपत्ति बताते हैं कि श्रोत्रिय समय-समयपर प्रचुरमात्रामें किसीके घर आते रहें, तो उन्हें देनेकेलिये सांड इतनी मात्रामें कहाँसे आयेंगे? उसका मारना भी इष्ट नहीं, क्योंकि एक बैल तो न्यून से न्यून सौ अतिथियोंका भोजन हो सकता है, तब एककेलिये **'चर्मतन्तौ महिषीं हन्ति'** की भाँति एक बैलको कैसे मारा जा सकता है? फलतः वहाँ वैसा कहकर श्रोत्रियका वाचिक सत्कारमात्र इष्ट होता है । न सांडका दान, न मारना । यह अर्थ ठीक भी है– क्योंकि शतपथमें 'पचेत्' का अर्थ 'पकाये' नहीं है, किन्तु **'व्यक्तीकुर्यात्'** (प्रकट करे) अर्थ है । इसमें **'पचि व्यक्तीकरणे'** यह धातु है । बालमनोरमाटीकामें यहाँ लिखा है– **'पचेत्येके'** इसमें पचि धातुका पाठभेद पच् भी है । तब उसका अर्थ 'व्यक्तीकरण' (प्रकटकरना) है । इस अर्थमें शतपथब्राह्मण और याज्ञवल्क्यस्मृतिकी एकार्थता सिद्ध हो गयी । अब प्रश्न यह है कि उक्त धातु आत्मनेपदी है, पर शतपथके प्रयोगमें आत्मनेपद नहीं, इसपर यह

जानना चाहिये कि आत्मनेपद तो **'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्'** इस परिभाषा से अनित्य है । अतः शतपथके वाक्यमें वह नहीं हुआ, अथवा आर्षतासे व्यत्ययवश नहीं हुआ । प्रकृतमें किया हुआ यह अर्थ समूल भी है । **'उक्षाणं पृश्निमपचन्त'** (ऋ.सं. १।१६४।४३) इस मन्त्रमें 'पच्' धातुकेलिये श्रीसायणाचार्यने लिखा है–

'उक्षाणं फलस्य सेक्तारं सोमं ऋत्विजः अपचन्त- पचधात्वर्थानादरेण तिङ्प्रत्ययः करोत्यर्थः । स च क्रियासामान्यवचनः । अत औचित्यात् सम्पादितवन्तः इत्यर्थः'

अर्थात् यहाँ 'पच्' धातुका अर्थ 'सम्पन्न करना है । इस प्रकार दिङ्नागकी 'कुन्दमाला' नाटिकामें भी **'इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां क्रियाः पुंसवनादिकाः । अस्माभिरेव पच्यन्ते ।।'** (१।३१) यहाँ भी पच् धातुका अर्थ उपकल्पन या सम्पादन ही है । इसी प्रकार–

'नमो मत्स्यकूर्मादिनानास्वरूपैः .....

मखादिक्रियापाककर्त्रेऽघहन्त्रे ।'

इस प्रसिद्ध पुराणप्रोक्त देवस्तोत्रमें भी पाककर्त्रेका उपकल्पक या साधक ही अर्थ है । तब याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथके वचनमें भी पच् धातुका सम्पादन, उपकल्पन इत्यादि अर्थ हैं । पकाना अर्थ नहीं । श्रीयाज्ञवल्क्यको वही अर्थ इसमें इष्ट है, जैसाकि उन्होंने अपनी याज्ञवल्क्यस्मृतिमें सूचित किया है ।

अब शेष प्रश्न यह है कि– सूर्यसे शतपथब्राह्मण पानेवाले याज्ञवल्क्य तथा याज्ञवल्क्यस्मृति बनानेवाले याज्ञवल्क्य क्या समान व्यक्ति हैं? क्या यह विश्वसनीय है? दोनों ग्रन्थोंके भाषाभेद होनेसे दोनोंकी समानकालीनता या एकता कैसे मानी जा सकती है । इसपर हम कहते हैं– यह ठीक है और विश्वसनीय है । इसमें हम प्रामाणिक विद्वानोंके प्रमाण उपस्थित करते हैं । **'तदप्रमाणमिति चेन्न प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात्'** (न्यायदर्शन ४।१।६२)के वात्स्यायन भाष्यमें– **'अप्रामाण्ये**

च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाल्लोकोच्छेदप्रसंगः ।' धर्मशास्त्रको प्रमाण न माननेपर प्राणियोंके सब व्यवहारोंके लोप होनेसे जगत् नष्ट हो जायगा । **'द्रष्टप्रवक्तृसामान्यात् चाप्रामाण्यानुपपत्तिः'** और मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभागके द्रष्टा एवं व्याख्यानकर्ता जो हैं वे ही इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्रके भी द्रष्टा-प्रवक्ता है । श्रीवात्स्यायन यह स्वयं स्पष्ट करते हैं- **'य एव मन्त्र-ब्राह्मणद्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च'** इसलिये समान प्रवक्तृता होनेसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदोंके प्रामाण्यकी तरह धर्मशास्त्र-स्मृतिका भी प्रामाण्य है । इसमें शतपथब्राह्मणद्रष्टा श्रीयाज्ञवल्क्य याज्ञवल्क्यस्मृतिके **'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'** (मनु. २।१०) प्रणेता भी सिद्ध हो गये । भाषाभेदका कारण यह है कि याज्ञवल्क्यस्मृति श्रीयाज्ञवल्क्यकी अपनी पौरुषेय रचना है और शतपथब्राह्मण सूर्यसे प्राप्त अपौरुषेय रचना है । अतः भाषाभेद स्वाभाविक है । यहाँ कालभेदकी कोई बात नहीं ।

शतपथब्राह्मणके अन्तमें कहा है- **'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्यक्येन आख्यायन्ते'** ।(१४।९।४।३३)

यहाँपर श्रीयाज्ञवल्क्यको सूर्यकेद्वारा शतपथब्राह्मणकी प्राप्ति कही है । इसका स्पष्टीकरण महाभारतके शान्तिपर्वमें है । यहाँ याज्ञवल्क्यने मिथिलाके राजा जनकको यह कहा था- **'मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि वसुधाधिप!'** (३१८।१) **'ततः शतपथं कृत्स्नं चक्रे'** । 'चक्रे' का यहाँ प्रकथन अर्थ है, क्योंकि **'कथां कुरुते'** आदिमें पाणिन्यनुसार उसका प्रयोग देखा गया है **'सपरिशेषं च'** (३१८।१९) । इससे स्पष्ट है कि श्रीयाज्ञवल्क्य मिथिलामें ही मैथिल शिरोमणि जनककी सेवाको स्वीकार करके वहीं निवास करते हुए धर्म और ब्रह्मका चिन्तन किया करते थे । यही याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी द्रष्टव्य है । उसमें कहा है-

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन् ।(१।१।२)

उसी स्मृतिमें श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी बृहदारण्यकके लिये जो कि शतपथका अन्तिम १४वाँ काण्ड है, कहा है-

'ज्ञेयं चारण्यकमहं (याज्ञवल्क्यः यद् आदित्याद् (सूर्याद्) अवाप्तवान्' । (प्रायश्चित्ताध्याय ४।११०) यहाँ श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें अपनेसे प्रवचन किए हुए बृहदारण्यककी (शतपथके १४वें काण्ड) सूर्यद्वारा प्राप्ति कही है । इससे स्पष्ट है कि शतपथका द्रष्टा तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिका प्रणेता श्रीयाज्ञवल्क्य कोई भिन्न-भिन्न नहीं; किन्तु एक ही व्यक्ति हैं । जब ऐसा है, तो उक्त **'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्'** इस शतपथके वचन का शतपथब्राह्मणमें तथा उसका उद्धरण देनेवाली वसिष्ठस्मृतिमें भी यही अर्थ इष्ट है, जो याज्ञ.स्मृति (१।५।१०९) में श्रीयाज्ञवल्क्य ने कहा है, अर्थात् उस बड़े बैल या बड़े बकरेका 'यह आपका ही है' ऐसा अतिथिको कहना इष्ट है, उनका मारना इष्ट नहीं ।

इसी कारण शतपथानुसारि उक्त वसिष्ठस्मृतिके वचनमें टीकाकार श्रीकृष्णधर्माधिकारीने भी ऐसी व्याख्या लिखी है-

'गृहागताय अभ्यागतायेंमहोक्षाणं-बलीवर्दं, महाजं वा पचेत्- भवदर्थमिति उपकल्पयेत्, न पाकं कुर्यात् प्रत्यभ्यागतमुक्षाऽसम्भवात् । 'एवमस्मै अभ्यागताय आतिथ्यं-सत्क्रियां क्रियासुः' । (४।८)

तब इस वचनसे 'बैलको मारना' अर्थ याज्ञवल्क्यसे प्रतिकूल ही है । यही वेदमें **'अतिथिग्व'** (अथर्व.२०।२१।८) शब्दसे कहा है- जिसका अर्थ श्रीसायणाचार्यने अपने अथर्ववेदभाष्यमें **'अतिथ्यर्था गावो यस्यासौ अतिथिग्वः'** किया है । इससे सिद्ध हुआ कि यह अतिथि-सत्कारार्थ है, न कि गोवधार्थ । अथवा याज्ञवल्क्यस्मृतिके 'उपकल्पयेत्' शब्दका अर्थ दान भी हो सकता है । उत्तररामचरितके चतुर्थांकमें उद्धृत **'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः'** इस धर्मसूत्रके वचनमें- जो कि शतपथके अनुसार ही है- 'निर्वपन्ति'का अर्थ 'ददति' देते हैं । टीकाकारोंने भी यही लिखा है । **'दानार्थे निर्वपणम्'** (अमरकोष २।७।३०)में भी निर्वपण शब्द दानके पर्यायवाचकोंमें है । तब उक्त सभी स्थलोंमें

दानका अर्थ भी सम्भव है, पर मारना अर्थ तो असम्भव ही है । वेदमें गाय-बैलकी बड़ी महिमा बतायी गयी है । उसमें गायको अघ्न्या (यजु.८।४३) तथा बैलको अघ्न्य (अथर्व.६।४।७) कहा है; तब उनकी हिंसाका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । इस प्रकार - **'गौर्मधुपर्कः स्यात् स्नातकाय उपस्थिताय राज्ञे वा'** (२।८।८)

इस आपस्तम्बश्रौतसूत्रके वचनमें भी गोदान इष्ट है, मारना किसी भी शब्दका अर्थ नहीं । यही अर्थ **'अर्हयेत् (पूजयेत्) प्रथमं गवा'** (३।३) इस मनुवचनमें भी अभिमत है कि स्नातकको गाय देकर उसका सम्मान करे । वस्तुतः **'गौर्मधुपर्कः'** आदिमें लुप्ततद्धितप्रक्रियासे गायका दुग्ध, नवनीत, घृत, दुग्धादि मधुपेय ही इष्ट है, जो अतिथि, आचार्य या वरको दिया जाता है । **'न मा मांसो मधुपर्कः स्यात्'** का भाव यह है कि उक्त वस्तुएँ मांसल (स्निग्ध) एवं पुष्टिकारक हों, निःसार न हों । मांसमें **'अर्शऽआदिभ्योऽच्'** (५।२।१२७) सूत्रसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है । जिसका मांसल अर्थमें पर्यवसान हो जाता है । **'महोक्षं पचेत्'** आदिमें पच् धातुका पूर्व कहा हुआ व्यक्तीकरण अर्थ ठीक संगत हो जाता है, जिसे मिताक्षराकारने बताया है अथवा 'सम्पादन' जिसे श्रीसायणने (ऋ० १।१६४।४३) अपने भाष्यमें बताया है ।

'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः'(गोपथ० १।१।१)

इस न्यायसे महान् दैवीय काव्य वेदमें तथा देवोपम ऋषि-मुनियोंके ग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं वह-वह बात परोक्ष शब्दोंसे कही जाती है, जिसे यथाश्रुतग्राही नहीं जान पाते । पाश्चात्य तथा पाश्चात्यानुयायी पौरस्त्य विद्वानोंने आपाततोदर्शी बनकर यही त्रुटि की है, जिससे यत्र-तत्र भ्रम फैल गया है । यह भी बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है कि पाकका केवल पकानेके ही अर्थमें प्रयोग नहीं होता, किन्तु अन्य अर्थोंमें भी उसका प्रयोग होता है । **'पाकः अहम्'** (ऋ.१०।२८।५) इस

मन्त्रका क्या यह अर्थ किया जायगा कि 'मारकर पकानेयोग्य मैं? श्रीसायणाचार्यने यहाँ उसका **'पक्तव्यप्रज्ञः'** अर्थ किया है । निरुक्तमें भी यही **'विपक्वप्रज्ञः'** (३।१२।१) 'सम्यग्दर्शी' अर्थ किया है । यहाँ पाकका मांस पकानेकी भाँति अर्थ नहीं । जैसे अन्नकेलिये 'पक्वः' शब्दका प्रयोग होता है, वैसे उसके पर्यायवाचक 'सिद्ध' शब्दका भी प्रयोग होता है, जैसे कि **'सिद्धमन्नमुदाहृतम्'** । वैसे ही 'पक्वप्रज्ञोऽयम्, सिद्धोऽयम्' यह पुरुषकेलिये भी प्रयुक्त होता है । कहीं-कहीं चतुरपुरुषको 'यह पका है' यह कहते हैं । इसी प्रकार चतुरपुरुषकेलिये 'विदग्धोऽयम्' भी कहा जाता है, इसमें मूल धातु 'दह्' है, जिसका अर्थ जला हुआ अर्थात् पका हुआ होता है पर इससे पुरुषको न तो पकाया जाता है, न जलाया जाता है 'बुद्धिकी परिपक्वता या पाकमें भी बुद्धिको मारकर चूल्हे पर चढ़ाया नहीं जाता, किन्तु वहाँपर उसकी सिद्धता एवं परिपूर्णता ही इष्ट होती है । कहीं पढ़े हुएको 'पढ़ा हुआ' और अनुभवीको 'कढ़ा हुआ' कहते हैं, यह क्वथित शब्दका पर्यायवाचक होता है, दूधको क्वथित किया जाता है, जलाकर पकाया जाता है, किन्तु पुरुषमें यह अर्थ इष्ट नहीं होता, किन्तु 'वह सिद्धपुरुष है' इस अर्थको रखते हैं । इस प्रकार 'महोक्षं पचेत्' में भी समझ लेना चाहिये कि- वृषभको 'सिद्ध' करके उसे पूर्ण करके अर्थात् उसे सजाकर तैयार करे और अतिथिकेलिये लाये । श्रीसायणाचार्यका 'पच्' धातुका (ऋ. १।१६४।४३) सम्पादन अर्थ पूर्व लिखा ही जा चुका है- यहाँ भी वही अर्थ है । तो यह उसका त्याग अपनेसे अलग करदेना भी एक हिंसा है । पर अतिथि-यज्ञादिमें वह अहिंसा ही मानी जाती है । इसी प्रकार- **'पचन्ति ते वृषभान् अत्सि तेषाम्'** (ऋ१०।२८।३) **'वृषभं पचानि'** (१।२७।२) इत्यादि मन्त्रोंकी व्याख्या भी हो गयी । यहाँ 'अत्सि' का अर्थ भक्षण है, पर वह वेदमें हो नहीं सकता, जब उसी वेदमें गायको **'अघ्न्या'** और बैलको **'अघ्न्य'** कहकर पुकारा है ।

तब या तो वृषभ-अदनसे ओषधि-विशेष पकाना तथा खाना अर्थ होगा, या वृषभका बैल अर्थ होनेपर उसके भक्षणका भाव 'स्वीकार-उपयोगमें लाना' है। इस प्रकारके प्रयोग लाक्षणिक अर्थोंमें प्रायः हुआ करते हैं। यहाँ भी वैसा समझ लेनेसे कोई भी भ्रम नहीं रह सकेगा। यहाँ धातुका अर्थ ऐसा है, जैसे दायादशब्द में **'दायमत्तीति दायादः'** इसमें जायदादका खाना अर्थ नहीं होता। किन्तु उसका 'उपयोग, उपभोग ही अर्थ होता है। यहाँपर भी वही समझना चाहिये। अथवा 'उक्षा'का अर्थ 'सोम' भी होता है, जैसेकि- **'सोमऽ उक्षाऽभवत्'**। (ऋ.सा.भा. **१।१६४।४३**) उसीका पचन-सम्पादन यहाँ इष्ट है यह संगत भी है। वस्तुतः 'महोक्षं पचेत्' इस ब्राह्मणका मूल **'उक्षाणं पृश्निमपचन्त'** यह मन्त्र (ऋ० **१।१६४।४३**)का मालूम होता है। यहाँ सायणने उसका अर्थ सोमसम्पादन किया है अतः ब्राह्मणमें भी वही संगत प्रतीत होता है कि अतिथिकेलिये सोमसम्पादन करना, अथवा 'उक्षा' ऋषभकन्द' भी होता है। इनके नाम सभी बैलवाचक होते हैं। मांसल होनेसे सभी दीर्घायु बढ़ानेवाली ओषधियोंमें 'उक्षा' वनस्पति भी है (राजनिघण्टु.५)। वहाँ उसके ऋषभ, उक्षा, गौ, वृषभः- ये पर्यायवाचक शब्द भी आये हैं। 'अज'का अर्थ 'अजमोदा' भी है। 'महाजा' वह बड़ी अजवाइनका नाम भी होता है। अतिथियोंको भोजनक्रियाके बाद पाचनक्रियार्थ अथवा बलवर्द्धनार्थ इन ओषधियोंका दान भी सम्भव हो सकता है। अथवा **'अजा व्रीहयस्तावत् सप्तवार्षिकाः'** (पञ्चतन्त्र काकोलूकीय ३ कथा)।

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि नो छागं हन्तुमर्हथ॥
(महा.शा. ३३७।४)

इस उक्तिसे 'अज' शब्दका 'सात वर्षके पुराने चावल' यह अर्थ भी है,

अतिथिकेलिये उन्हींका पकाना या वृषभकन्द अथवा सोमरस पकाना भी इष्ट हो सकता है । परन्तु पाश्चात्य विद्वानोंने इस सर्वांगीनताको न विचारकर यथाश्रुत ही अर्थ लिये हैं, पर वह ठीक नहीं, यह हमने सिद्ध कर दिया है ।

शतपथब्राह्मणके **'यो धेन्वनडुहयोरश्नीयादन्तगतिरिव तग्गूंहाद्भुतम् अभिजनितोर्जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकदिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'** (३।१।२।२१) वचनमें गोभक्षकको गर्भघातक, सर्वभक्षी और पापी कहा है– तब श्रोत्रियकेलिये शतपथको वैसा आतिथ्य कैसे सम्मत हो सकता है? यहाँके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यने भी कहा है कि **'धेन्वनडुहयोः सर्वजगदुपकारकत्वात्तदीयाशनप्रतिषेध इत्यर्थः'** । पुनः **'अथैनान् विमुञ्चत्याप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनान्युंक्ते विमुच्यध्वमघ्न्याः'** (शत.७।१।४।२१) इसमें भी गोवंशको **'अघ्न्याः-अहन्तव्याः'** बतानेवाले शास्त्र कभी गोवधका समर्थन कैसे कर सकते हैं? फलतः वसिष्ठमृतिके वचनमें तथा उसके मूलभूत शतपथब्राह्मणके वचनमें गोवधानुशासन सर्वथा सिद्ध न हुआ । पाश्चात्योंकी इन कल्पनाओंका तो कोई मूल्य है ही नहीं ।

अतिथिकी गोघ्नसंज्ञापर विचार

'गोघ्न' अतिथिका नाम क्यों है, **'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते'** ऐतरेयब्राह्मणके इस वचनका क्या आशय है ?

अब हम इस प्रकरणपर विचार करते हैं ।

पूर्वमें हम **'राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं महाजं वा पचेत्'** ॥ (३।४।१।२) इस शतपथके वचनका वास्तविक अर्थ लिख चुके हैं; पर पाश्चात्य दृष्टिकोण रखनेवाले पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'यह अर्थ ठीक नहीं' यहाँ अतिथिकेलिये बैलको मारना इष्ट है । तभी **'गोघ्नोऽतिथिः'** यह व्याकरणादिमें भी अतिथिकेलिये 'गोघ्न' शब्द प्रसिद्ध है । गौतमधर्मसूत्रमें (२।८।३०) सूत्रके व्याख्याता श्रीहरदत्तने भी इस अर्थकी सिद्धिकेलिये यही शब्द दिया है, उसमें उन्होंने ऐतरेयब्राह्मणकी साक्षी भी दी है, और कहा है कि– 'प्राचीन भारतमें गोवध हुआ करता था' कितना दु:खदायक है? तब **'महोक्षं पचेत्'** का सम्पादन या व्यक्तीकरण अर्थविचार सही नहीं । उसपर हम कहते हैं कि कई व्याख्याता अपनी समझमें वेदका यथाश्रुत अर्थ समझकर वेदकी हिंसाको अहिंसा मानकर फिर उसपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझते, अत: वे आपातत: प्रतीयमान अर्थको कर दिया करते हैं, यह अधिक विचार न करनेके कारण से होता है । अब हमें इसपर भी विचार करना चाहिये । गौतमधर्मसूत्रमें (२।८।३०) गाय–बैल की अभक्ष्यताके प्रसंगमें व्याख्याता श्रीहरदत्तने **'बह्वृच्-ब्राह्मणे श्रूयते'** कहकर ऐतरेयब्राह्मणका **'उक्षाणे वा वेहतं वा क्षदन्ते'** यह वचन दिया है, उसपर हम विचार अग्रिम निबन्धमें करेंगे । उसके आगे उन्होंने लिखा है– **'अतिथेर्भक्ष्यम्, अन्येषामभक्ष्यम्'** यहाँ उसने अतिथिकेलिये तो भक्षण स्वीकृत किया है, दूसरेकेलिये नहीं । भक्षणका तात्पर्यार्थ स्वीकार या उपयोग भी हुआ करता है (जैसाकि हम गत निबन्धमें संकेत दे चुके हैं) । यह उन्होंने सोचनेका

कष्ट नहीं उठाया। इससे उन्होंने सन्तोष न करके आगे लिखा है- **'वधोऽपि किल तत्रानुज्ञातः, 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** (पा० ३।४।७३) **'गौर्यस्मै हन्यते स गोघ्नोऽतिथिरिति'**। यहाँ श्रीहरदत्तने 'गोघ्न' पदमें हन् धातुका अर्थ वध समझा है। यह लिखकर उन्होंने आगे लिखा है- **'एवं किल पूर्वमाचारः, इदानीं गन्धोऽपि न'** अर्थात् पहले अतिथिसत्कारमें गोवधका आचार था; अब तो उसका गन्ध भी नहीं ' पर यह उनका मत ठीक नहीं। उनकेद्वारा उद्धृत ऐतरेयब्राह्मणके वचनपर तो हम विवेचना अग्रिम निबन्ध पर करेंगे ही, अब यहाँ उनके 'गोघ्न' शब्दपर विचार किया जाता है। यहाँ श्रीहरदत्तने यह नहीं सोचा कि यदि गाय, बैल अतिथिकेलिये भक्ष्य है, तो फिर दूसरेकेलिये अभक्ष्य क्यों है? अतिथिसत्कार पञ्चमहायज्ञान्तर्गत 'नृयज्ञ' का नाम है। नृयज्ञ प्रतिदिन करनेका विधान है और यज्ञशेषका स्वयं भी भक्षण करना शास्त्रानुमोदित है, तब श्रीहरदत्तने उसका अन्यकेलिये निषेध क्यों किया? या उसकी क्या संगति होगी? अन्यकेलिये यदि निषिद्ध है तो वह अन्य किसीका अतिथि बनकर जाय, तो क्या उसे उसका भक्षण न करना पड़ेगा? यदि करना पड़ेगा तो अतिथिकी अतिथिभिन्नसे क्या विशेषता रही? अतिथि आया एक, उसके लिये एक धेन्वडुहका वध भी हो गया, उसने उसे खा भी लिया। एक अतिथि पूर्णपशुको तो खा नहीं सकता, दूसरोंको उसे श्रीहरदत्तके अनुसार खाना नहीं है, तो फिर शेष पशु तो व्यर्थ ही जायगा। क्या यह **'चर्मतन्तौ महिषीं हन्ति'** चमड़ेकी छोटी तन्तुकेलिये भैंसका मारना नहीं? और फिर नृयज्ञ प्रतिदिन होगा, तो इतने बैल कहाँसे आयेंगे? इन असंगतियोंको न सोचनेके कारण ही श्रीहरदत्तको आपाततः प्रतीयमान अर्थ करना पड़ा। आश्चर्य तो यह है कि अपना विशाल दृष्टिकोण बनानेवाले आधुनिक शिक्षितोंने भी बिना 'ननु नच'के इसे मान लिया। तब इसका उत्तरदायित्व अब केवल श्रीहरदत्तपर न होकर उन नवशिक्षितोंपर भी है। हम उसपर विचार देते हैं- इसपर विचार करनेसे पूर्व यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि वेदमें गायका नाम **'अघ्न्या'** (यजु० ८।८३) और बैलका

नाम **'अघ्न्य'** (अथर्व० ९।४।१७) आया है, जिसका अर्थ है न मारनेयोग्य । गायका अर्थ निघण्टुमें **'अही'** (२।११) भी है, जिसका अर्थ श्रीदेवराजयज्वाने **'अहन्तव्या'** किया है, इसी प्रकार गायके 'अदिति' नामका निर्वचन उसीने 'अखण्डनीया' किया है, यह **'दोऽवखण्डने'** धातुका प्रयोग और नञ् समास है । इसीका निगम **'गां मा हिंसीरदितिं विराजम्'** (१३।४३) यह है । अन्य किसी भी पशुकेलिये ऐसा शब्द नहीं आया है । यदि वेदमें गोघ्न शब्दसे गायका मारना इष्ट हो तो उसका अघ्न्या शब्दके साथ वेदादिशास्त्रोंमें परस्पर व्याघात विरोध उपस्थित हो जाय । व्याघात होनेसे वेदादिशास्त्र ही अप्रमाण हो जायँ । तब विचारणीय है कि वेदमें गोघ्न शब्द का क्या अर्थ है? वस्तुत: गोघ्न शब्द अतिथिपूजाका अर्थवाद है अर्थात् अतिथि इतना पूजनीय है कि उसकेलिये परमपूजनीय गाय-बैलको न्यौछावर कर दिया जाता है । इससे गायका मारना तात्पर्य विषय नहीं है, किन्तु गायकी अपेक्षा भी अतिथिकी अधिक पूजा यहाँ विवक्षित है । अतिथिकी महिमा वेदोंमें प्रत्यक्ष है । अथर्व.सं. अतिथिसूक्तके (१५।३।१-१०,९।६, २।६) मन्त्र तो अत्यन्त स्पष्ट हैं । इस गायकी अपेक्षा अतिथिकी अधिक पूजा करनेसे सर्वाधिक पूजनीय गायका अपमान होता जाता है । उस गायका अपनेसे निम्नसे भी निम्न किये जानेके कारण हो गया हुआ अपमान उसका वध है । उस गायका यह अपमान करानेवाला होता है अतिथि, इसलिये अतिथिको 'गोघ्न' कहा जाता है- यह तात्पर्य है । अर्थवाद में यही प्रकार हुआ करता है । उसमें शब्दका अर्थ न होकर तात्पर्य ही लिया जाता है । महाभारतके कर्णपर्वमें गाण्डीव-धनुषकी निन्दा करते हुए युधिष्ठिरको जब अर्जुन अपनी प्रतिज्ञानुसार मारने दौड़ा, तब भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा कि बड़ेको 'तू' कह देना उसका वध हुआ करता है **'त्वंकारेण गरीयसाम्'** (कर्णपर्व ६।८३।८६) । तुम भी युधिष्ठिरका इसी प्रकार तू कहकर वध कर दो तब अर्जुनने वैसा ही किया । फिर इस गुरुतुल्य ज्येष्ठभ्रातृवधके प्रायश्चित्तार्थ जब अर्जुनने स्वयं चितामें जलना चाहा, तब भगवान्ने उसे अपनी (अर्जुनकी) प्रशंसा करनेके रूपमें

आत्महत्याका उपदेश दिया । अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना आत्महत्याके ही समान होती है ।

फलतः हिंसा भी अनेक प्रकारकी होती है । इस प्रकारके अर्थवादोंका तात्पर्य वास्तविक हिंसामें न होकर एक उच्चके अपमान तथा दूसरे निम्नको उत्कृष्टतर बनानेमें हुआ करता है । **'गोघ्नोऽतिथिः'** का भी वही अर्थ हुआ कि अतिथि गायकी अपेक्षा अत्यन्त कम होता हुआ भी अपने सत्कारके समयमें सर्वोत्कृष्ट गायको अपनी अपेक्षा निम्नतर बनवाकर अपमानरूप उसका वध किया, क्योंकि–

'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता.२।३४)

आदृतकी अपकीर्ति उसकी मृत्युकारक होती है ।)

इस न्यायका पोषक हो जानेसे **'गोघ्नोऽतिथिः'** इस नामसे कहा जाता है । वस्तुतः गायको मरवानेसे नहीं । नहीं तो वह अपने लिये गोघातक होनेसे चाण्डाल कहा जाता है, पर उसे वैसा नहीं कहा जाता । पृषध्र अपने गुरुकी गायको अन्धेरेमें शेरके धोखेमें मारने से शूद्रमें भी चाण्डालवत् माना गया । यहाँ कामपूर्वकतामें मरवानेसे अतिथिको भी चाण्डाल क्यों नहीं कहा जाता? पर नहीं कहा जाता है । इसलिए **'दाशगोघ्नौ संप्रदाने'** (पा० ३।४।७३) इस सूत्रपर काशिका तथा न्यायमें कहा गया है– **'निपातनसामर्थ्यादेव गोघ्न ऋत्विगादिरुच्यते, न तु चाण्डालादिः । असत्यपि गोहनने तस्य योग्यस्तथा 'गोघ्न' इत्यभिधीयते'** ।

इससे उस अतिथिकी गोहननमें योग्यता दिखलायी गयी है, गोहनन नहीं दिखलाया गया । बल्कि **'असत्यपिगोहनने'** इस शब्दसे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है । गोहनन न होनेपर भी उसे **'गोघ्न'** कहा जाता है । गोहननमें योग्यता वही अतिथिकी पूर्वोक्त है कि वह गौको अपनेसे न्यून एवं उसे अप्रतिष्ठित बनाकर, अपमानित करके उसके हननका कारण बनता है, नहीं तो काशिकाकार और न्यासकार उस गोघातक अतिथिको चाण्डाल कहते, पर उन्होंने वैसा नहीं कहा ।

तब उस पक्षमें प्रतिपक्षियोंका इष्ट अर्थ सिद्ध न हुआ । इसके अतिरिक्त 'हन्' धातुका गति अर्थ भी होता है, केवल 'हिंसा' अर्थ नहीं । पाणिनीय-धातुपाठमें **'हन् हिंसागत्योः'** यहाँ हन् धातुका गमन अर्थ भी माना है, केवल हिंसा नहीं । इसलिए वार्त्तिककारने भी **'हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नी भावो वाच्य;' जेघ्नीयते'** यह कहकर **'जङ्घन्यते'** इत्यादिमें हिंसासे भिन्न अर्थ भी माना है । यदि केवल 'हन्' धातुका 'हिंसा' अर्थ होता, तो वार्त्तिककारका इस वार्त्तिकमें 'हिंसा' अर्थ कहना व्यर्थ होता । यह अर्थ कहनेसे सिद्ध होता है कि हन् धातुका हिंसासे भिन्न अर्थ भी होता है । एक अन्य विशेष ध्यान देनेकी यह बात है कि वैदिक-निघण्टुमें **'हनति, हन्ति, हन्तात्'** (२।१४) गत्यर्थक धातुओंमें 'हन्' धातु भी आया है । अन्य विशेषता यह है कि निघण्टुमें (**२।१९**) वध अर्थवाले धातुओंमें 'हन्' धातुका प्रयोग सर्वथा व्यर्थ नहीं है । गतिकर्मक धातुओंमें वहाँ यह हन् धातुके प्रयोग आये हैं, पर वधार्थक तैंतीस धातुओंमें 'हन्' धातुका प्रयोग सर्वथा नहीं आया, इससे वेदमें **'गोघ्न'** आदि शब्दोंमें भी 'वध' अर्थ कैसै हो सकता है? जब वेदमें नहीं; तब वेदाङ्ग व्याकरण, कल्प आदिमें भी हनन अर्थ कैसे हो सकता है? तब अर्थ हुआ- **'गां हन्ति-गच्छति अस्मै इति गोघ्नोऽतिथिः', 'अस्मै-अतिथ्यर्थे दुग्धादिप्रापणार्थं गोपार्श्वं गच्छति ।'**

इस प्रकार अतिथि 'गोघ्न' हुआ । उस अतिथिको दूध देनेकेलिए गायके पास गमन करनेसे 'गोघ्न' शब्द बना ।

इसके अतिरिक्त 'हिंसा'का केवल हनन अर्थ ही नहीं होता, किन्तु ताडन या आहनन अर्थ भी हुआ करता है । 'हंस' शब्दका निर्वचन करते हुए निरुक्तकार श्रीयास्कने लिखा है- **'हंसा हन्तेः, घ्नन्ति अध्वानम्'** (४।१३।१) यहाँपर मार्गमें गमन करने या मार्गके ताडन करनेके अतिरिक्त हननका प्राणवियोग अर्थ सम्भव नहीं हो सकता । इसी प्रकार **'यत्र वैद्युतः(अग्निः) शरणम् (भूमिम्) अभि-हन्ति'** (नि.**७।२३।९**) यहाँपर श्रीयास्काचार्यको 'हन्' धातुका गति (प्राप्ति) या ताडन अर्थ

इष्ट है कि 'बिजली जब पृथ्वीमें प्राप्त होती है'। इसीलिए श्रीदुर्गाचार्यने भी यहाँ व्याख्या लिखी है– **'निहन्ति-अभिगच्छति प्राप्नोति इत्यर्थः'** तब **'गां हन्ति ताडयति, अतिथये दानार्थं ताडनद्वारा गमयति इति गोघ्नोऽतिथिः ।'**

यह अर्थ निकला, अर्थात् पुरुष गायका इसलिए ताड़न करता है कि वह वहाँसे चले और अतिथिको इसका दान किया जाय या उसे उसका सद्यः (धारोष्ण) दूध दिया जाय ।

कृदन्तोंमें 'हन्' धातुसे निष्पन्न 'घन' **'मूर्तौ घनः'** (पा॰ ३।३।७७) शब्द काठिन्य अर्थमें, **'अन्तर्घनो देशे'** (७८) देश अर्थमें, **'अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च'** (७९) घरके एकदेश अर्थमें, **'उद्घनोऽत्याधानम्'** (८०) स्थापन अर्थमें, **'अपघनोऽगम्'** (८१) शब्द अंग अर्थमें, **'करणेऽयोविद्रुषु'** (८२) 'अयोघन' शब्द ताडन अर्थमें, **'स्तम्बे क च'** (८३) 'स्तम्बघ्न' शब्द गमन आदिके अर्थमें, **'परौ घः'** (८४) सूत्रमें परिघका अर्थ लौहमुद्गर, **'उपघ्न आश्रये'** (८५) शब्द आश्रय अर्थमें, **'संघोद्घौ गणप्रशंसयोः'** (८६) शब्द समूह अर्थमें, 'उद्घ' शब्द प्रसंशित अर्थमें तथा **'निघो निमितम्'** (८७) शब्द मित या समान अर्थमें आता है । इन सब स्थलोंमें 'हन्' धातुका प्रयोग है, पर यहाँ प्राणवियोगरूपी अर्थका थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है, बल्कि **'उपघ्न'** (कृ॰ ३।३।८५) शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए श्रीभट्टोजिदीक्षितने लिखा है–

'पर्वतेन उपहन्यते-सामीप्येन गम्यते इति पर्वतोघ्नः'

यहाँपर 'हन्' धातुका अर्थ स्पष्टतया 'गमन' ही किया है । **'पद्धति'** शब्दमें, जिसका अर्थ मार्ग होता है । **'पादाभ्यां हन्यते-गम्यते'** यह 'हन्' धातुका गमन अर्थ विश्वश्रुत है ही ।

आलंकारिक विद्वानोंका 'हन्' धातुके गमन-अर्थमें प्रयोग करनेपर 'असमर्थ दोष' बतलाना अर्वाचीनकालिक व्यवहार है, प्राचीन नहीं, बल्कि **'तीर्थं हन्ति, कुञ्जं हन्ति'**, आदि असमर्थके उदाहरणोंमें 'हन्' धातुका गमन अर्थमें प्रयोग

प्राचीनकालमें इस अर्थके प्रचारको बतला रहा है । **'उद्घनः'** शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए श्रीदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीके कृदन्तप्रकरणमें लिखा है **'उद्हन्यते उत्कृष्टो ज्ञायते'** वहाँ श्रीदीक्षितने 'हन्'धातुका ज्ञान अर्थ किया है । इसमें वहाँ हेतु बतलाया गया है- **'गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वाद् हन्तिर्ज्ञाने'** अर्थात् **'सर्वे गत्यर्था-ज्ञानार्था अपि भवन्ति'** इस प्रसिद्धिसे गत्यर्थक धातुओंका 'ज्ञान' अर्थ भी होनेसे यहाँ हन् धातुका ज्ञान अर्थ किया गया है । इससे हन् धातुका 'गमन' अर्थ भी व्यवहार-प्रचलित है, यह सुस्पष्ट हो गया ।

ऋग्वेदभाष्यके उपोद्घातमें **'तृतीयं च हंसं'** (तै.आ.२।१५) की व्याख्या करतेहुए श्रीसायणाचार्यने लिखा है- **'हन्ति सदा गच्छतीति हंसो वायुः'** इससे भी हन् धातुका 'गमन' अर्थ सिद्ध हो रहा है । तब **'गोघ्न'** शब्दकी व्युत्पत्ति करतेहुए श्रीहरदत्तने यह नहीं सोचा कि **'गौः हन्यते-गम्यते, प्राप्यते दुग्धाद्यर्थं, दानार्थं वा अस्मै' इति 'गोघ्नोऽतिथिः'** इस प्रकार हन् धातुका गमन अर्थ भी यहाँ ठीक सिद्ध होता है । जबकि वेदमें गाय को **'अघ्न्या'** (ऋ० १०।८७।१६) और बैलको **'अघ्न्य'** (अथर्व० ९।४।१७) स्वीकृत किया गया है, तब उसका हनन अर्थ हो ही कैसे सकता है? यह श्रीहरदत्तने नहीं सोचा । तब श्रीहरदत्तने उक्त गौतमसूत्रकी व्याख्या करतेहुए जो लिखा है कि **'एवं किल पूर्वमाचारः'** यह लिखतेहुए उन्होंने नहीं विचारा कि गोतम ऋषि भी कोई अर्वाचीन नहीं हैं; तब इस ऋषिने गाय-बैलको भक्ष्योंमें क्यों नहीं गिना? उन्हें अभक्ष्योंमें क्यों गिनाया?

'राज्ञश्च श्रोत्रियस्य च मधुपर्कः' (गौ.ध.१।५।२८)

'अश्रोत्रियस्य आसनोदके' (२९)

'श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्नविशेषाँश्च प्रकारयेत्' (३०)

यहाँ श्रोत्रियकेलिये मधुपर्कके अवसरपर श्रीगोतमने खीर-पूएका तो निर्देश किया; पर गोमांसका लेशतोऽपि भी संकेत नहीं किया; तब **'एवं किल पूर्वमाचारः'** लिखतेहुए श्रीहरदत्तने दोनोंके अविरोधका प्रकार क्यों नहीं सोचा है? यह आश्चर्य

है! इससे स्पष्ट है कि प्राचीन समयमें अतिथिसत्कारके समय गोवध नहीं होता था, किन्तु गाय-बैलका याज्ञ.स्मृतिके-

'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (१।५।१०९)

इस कहे प्रकारसे स्मार्त-आचारमें गायका दान या प्रकट करना रूप उपकल्पन या गोदुग्धसे बनाये पदार्थोंका परोसना या गो-उक्षा अर्थात् सोमरसका लाना ही अतिथिकेलिये होता था, यही **'गोघ्न'** शब्दका अर्थ है, गोहनन नहीं, क्योंकि अघ्न्याका हनन कभी शास्त्रीय नहीं हो सकता । अथवा अतिथिपूजामें गोहनन **'मघासु हन्यन्ते गावः, अर्जुन्योः पर्युह्यते'** (ऋ.सं.१०।८५।१३) इस मन्त्रकी भाँति जानना चाहिये ।

इस मन्त्रका सायणाचार्यने इस प्रकार व्याख्यान किया है-

'मघासु गावः सवित्रा दत्ताः सोमगृहं प्रति हन्यन्ते- दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्'

अर्थात् विवाहके दिन कन्यापिताके द्वारा दी गयीं गौएँ वरके घर भेजनेकेलिये दण्डे से हाँकी जाती हैं, जैसेकि गौओंको चलानेकेलिये स्वाभाविक है- **'दण्डेन गोगर्दभौ'** । इस प्रकार अतिथि भी आकर दूध आदि अपनेको देनेकेलिये या गायका ही अपने आपको दान करवानेके लिये दाता द्वारा गौका ताडन करवाता है, हाँकता है या चलवाता है अतः उसकेलिये गति अर्थ या ताडन अर्थवाले 'हन्' धातुके प्रयोगसे वह गोघ्न कहा जाता है, मरवानेसे नहीं । **'गां हन्ति ताडयति अस्मै प्रदानाद्यर्थम्'** इस विग्रहमें **'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** (३।४।७३) इस पाणिनिसूत्रसे सम्प्रदान अर्थमें गोघ्न शब्दकी सिद्धि हुआ करती है ।

स्पष्ट है कि गाय जिसके पास रहनेमें अभ्यस्त हो, उससे भिन्नके पास अपनी इच्छासे नहीं जाना चाहती । तब उसको हाँकनेकेलिये उसे दण्डे आदिसे ताडन करना पड़ता है, वही ताडन या गमन 'हन्' धातुसे प्रकाशित होता है । इसलिये **'हन् हिंसागत्योः'** यहाँ 'हन्' धातुका गमन अर्थ भी किया गया है । हन् धातु पीटनेके अर्थमें भी प्रसिद्ध है, जैसेकि **'मा त्वं विकेश उर आवधिष्टाः'**

(काठकगृह्यसूत्र २८।४) यहाँ विधवा स्त्रीका छातीपीटना अर्थ है, छाती को मार डालना अर्थ नहीं, क्योंकि उस अर्थमें संगति नहीं पड़ती । इस प्रकार **'त्रिः स्म माऽह्नः श्नथयो वैतसेन दण्डेन (शिश्नेन) हतात्'** (शतपथ ५।४।४।७) यहाँपर उर्वशी पुरूरवा द्वारा पुंस्प्रजननसे अपने वरांगका हनन कह रही है । इसका मूल संहितामें इस प्रकार है **'त्रिः स्म माऽह्नः श्नथयो वैतसेन'** (ऋं.सं.१०।९५।५) यहाँ उर्वशीके वाक्यमें (क्योंकि वही इस मन्त्रकी ऋषिका है और पुरूरवा देवता-वाच्य हैं) **'श्नथयः'** शब्द है । 'श्नथ' धातु वैदिक-निघण्टुमें (**२।१९**) वर्धकर्मक धातुओंमें लिखी है, फिर भी यहाँपर वरांगका 'वध' अर्थ न करके 'ताडन' अर्थ किया जाता है क्योंकि शब्दार्थके अनवच्छेदमें विशेष लाभदायक संयोगादिकोंमें औचिती भी एक पदार्थ आया है, तदनुसार वरांगका ताडन अर्थ ही उचित है, प्राणवियोग नहीं । इसी प्रकार गायका जहाँ हनन आपाततः प्रतीत होता हो, वहाँपर भी औचितीसे ताडन ही अर्थ होता है मारण नहीं, क्योंकि उसे वेदमें 'अघ्न्या' कहा गया है । इसी प्रकार **'अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति'** (शतपथ० ।४।४।७) यहाँ भी हन् धातुका अर्थ राजाको पीटना है, मार डालना नहीं, क्योंकि उस अर्थमें संगति नहीं पड़ती । इसप्रकार **'स हि देवान् जिघांसति'** (शतपथ.१।४।१।२१) यहाँ भी हन् धातुका अर्थ गमन ही है । तभी श्रीसायणाचार्यने लिखा है **'जिघांसति प्राप्तुमिच्छति'** । वैसे ही गोघ्न शब्दमें भी समझ लेना चाहिये । यदि हन् धातुका हिंसा अर्थ अक्षुण्ण ही रखा जाय, तब भी तो यह अर्थ होगा कि 'अतिथिके पास लेजानेकेलिये डण्डेसे उसका ताडन किया जाता है' । सब देवताओंकी आधारस्थली एवं पूज्या गायको डण्डेसे मारना कि वह अतिथिके पास चले, वह भी तो हिंसा ही है । उसी हिंसाको प्रोत्साहित करनेसे अतिथिका नाम 'गोघ्नः' प्रसिद्ध है । अतिथिके पास लेजानेके उसके दो उद्देश्य हैं, पहला- उस अतिथिको उस गायका धारोष्ण ताजा दूध देना या दूसरा- उस गायका ही अतिथिको दान कर देना । इस प्रकार **'गोघ्नोऽतिथिः'** यह शब्द संगत हो गया । हिंसा भी सदा प्राणवियोग

अर्थवाली हो, यह भी आवश्यक नहीं । सिद्धान्तकौमुदीके दिवादिगण में **'मीङ् हिंसायाम्'** इस धातुपर श्रीदीक्षितने लिखा है **'हिंसाऽत्र प्राणवियोगः'** अर्थात् इस धातुमें हिंसाका अर्थ प्राणवियोग है । इससे सिद्ध हुआ कि मीङ् धातुसे भिन्न हन्, हिसि आदि धातुओंका जहाँ हिंसा अर्थ किया गया है, वहाँ प्राणवियोग अर्थ अनिवार्य नहीं । यदि हिंसाका सर्वदा एवं सर्वथा तथा सर्वत्र मारना ही अर्थ होता, भिन्न नहीं, तो **'हिंसाऽत्र प्राणवियोगः'** यह लिखना ही असाभिप्राय एवं व्यर्थ हो जाता । इस उल्लेखसे सिद्ध होता है कि हिंसाका अर्थ सर्वत्र प्राणवियोग नहीं होता । **'गन्धनावक्षेपण.'** (पा० १।३।३२) सूत्रमें सूचना या चुगली करदेनेको भी हिंसा माना गया है । तब 'गोघ्नः' पदमें भी हिंसाका 'प्राणवियोग' अर्थ अनिवार्य नहीं हो सकता । हन् धातुके गमन अर्थमें भी हम पूर्वमें युक्ति-प्रमाण दे ही चुके हैं । पाठकगण एक-दो अन्य भी प्रमाण देख लें **'आहन्ति गभे पसौ'** (वा० स० २३।२२) इस मन्त्रमें 'आहन्ति' है । इसपर भाष्यकार श्रीउवटाचार्यने लिखा है **'हन्तिर्गत्यर्थः, आहन्ति-आगच्छति, अत्यर्थं वा आहन्ति (ताडयति)'** इसीप्रकार श्रीमहीधराचार्यने भी लिखा है **'आहन्ति आगच्छति'** । **'यथांगं वर्द्धतां शेपस्तेन योषितमिद् जहि'** (अथर्व.६।१०१।१) वाजीकरणके इस मन्त्रमें शेपसे स्त्रीका हरण, वरांगका ताडन इष्ट है, 'हन्' धातुके 'लोट्'के 'सिप्'के इस प्रयोगका कोई भी प्राणवियोग अर्थ नहीं कर सकता । श्रीसायणाचार्यने तो यहाँ-

'तेन प्रवृद्धेन शेपसा, योषितं-सुरतार्थिनीं स्त्रियं, जहि-गच्छ'

यह भाष्य लिखकर 'हन्' धातुका गमन अर्थ भी होता है, हमारे इस पक्षको बहुत ही स्पष्ट कर दिया है । **'अस्य मुखे जहि'** (अ०६।६।२) यहाँ श्रीसायणने 'जहि' का 'ताडन' अर्थ किया है । (अ० ७।११४।४) में उन्हीं ने 'जहि' का 'तिरस्कुरु' अर्थ किया है । तब 'गोघ्नः' पदमें पूर्व हमारे कहे प्रकारसे 'गायका तिरस्कार करानेवाला अतिथि' यह अर्थ भी संगत हो जाता है । **'यत्र हता**

अमित्राः' (ऋ० १।१३२।१) यहाँपर भी श्रीसायणने **'हताः-प्राप्ता घातिता वा'** यहाँ हन् धातुका 'प्राप्ताः' अर्थ भी किया है। **'अप दुर्मतिं हतम्'** (ऋ० १०।४०।१३) यहाँपर भी श्रीसायणने **'हतम्'**का **'अपगमयतम्'** यह 'गमन' अर्थ भी सिद्ध किया है। **'अप......जहि'** (अ० १।४२।२) यहाँ श्रीसायणने 'अपाकुरु' अर्थ किया है। **'हस्तघ्नः'** (ऋ० ७।७५।१४) यहाँ **'ज्यया हन्यते-ताड्यते'** यह अर्थ है, 'व्यापाद्यते' नहीं। निरुक्तमें भी **'ज्याया वधात् परित्रायमाणः'** (९।१५।१) यहाँ भी 'वध'का अर्थ 'आघात' ही है। 'जानसे मारना' नहीं, बल्कि-वह 'हस्तघ्न' (दस्ताना) 'हाथका रक्षक' ही होता है; तब 'गोघ्न' अतिथि भी गायका रक्षक हुआ भक्षक नहीं। फलतः जो लोग वेदादिमें 'हन्' धातुको देखते ही एक मात्र 'हिंसा' अर्थ करने लग जाते हैं, उनका पक्ष इस मीमांसासे निरस्त हो गया। वस्तुतः अतिथि-सत्कार करनेवाला पुरुष अपने गाय-बैलोंको अतिथिकेलिये ही मानता है, इसलिए वेदमें **'अतिथिग्व'** शब्द है, जिसका अर्थ श्रीसायणाचार्यने **'अतिथ्यर्था गावो यस्य सः अतिथिग्वः'** ऐसा किया है, तब गाय-बैल अतिथिको देकर या दिखलाकर उसे कहा जाता था कि 'महाभाग! यह हमारा सभी गोधन आपका ही है' जैसे कि याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा है-

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्।
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः॥(१।५।१०९)

इसका ऐसा ही अर्थ प्रसिद्ध टीका मिताक्षरामें भी किया गया है। इसीका मूल **'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्'** इस याज्ञवल्क्यदृष्ट शतपथके वचन में इष्ट है। 'पचेत्'का वहाँपर उपकल्पन या सम्पादन अर्थ है, अन्य कुछ नहीं, यह हम गत निबन्धमें बता चुके हैं। 'गोघ्न'में भी वह अर्थ इष्ट है। किसी प्रकार यहाँ 'हन्' धातुका मारना भी अर्थ माना जाय, तथापि वहाँ 'गो' शब्दका 'पशुसामान्य' अर्थ है, 'गाय' नहीं; क्योंकि गायके 'अघ्न्या-अहन्तव्या' होनेसे, जैसाकि महाभारतमें भी कहा है-

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।

महच्चकाराऽकुशलं वृषं गामालभेत्तु यः ॥ (शा.२६२।४७)

मारण-समयमें उसका ग्रहण नहीं हो सकता । पशुसामान्यका वाचक भी 'गो' शब्द आता है, इसमें प्रमाण-

स्वर्गेषु-पशुवाग्वज्र-दिङ्-नेत्र-घृणि-भू-जले ।

लक्ष्य-दृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः....' (३।३।२५)

यह अमरकोषका है । निरुक्तकारने भी यही कहा है-

'अथापि च गौरिति पशुनाम भवति एतस्मादेव' (२।५।३) ।

(ऋ.सं. १।११।५) मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यसे प्राचीन भाष्यकार श्रीवेंकटमाधवने भी 'गोमत:'का 'गृहीतपशो:' अर्थ किया है । **(ऋ.१०।१४६।३)** मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यने **'गाव:'**का **'गवयाद्या मृगा:'** अर्थ किया है । शतपथके **'पशवो वै पय:'** (७।४।१७)में दुग्धको भी पशु कहा है । रन्तिदेवकी कथा 'महाभारत' आदिपर्व में

'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा' ।(२०८।९)

यहाँ 'गो' शब्द आया है, इसीके अनुवादमें द्रोणपर्वमें-

उपस्थिताश्च पशव: स्वयं यं शंसितव्रतम् ।

बहव: स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत्सत्रयाजिनम् ॥(६७।४)

यहाँ 'गो'का पर्यायवाचक 'सामान्यपशु' शब्द आया है । तब 'गोघ्न'में 'हन्' धातुका 'मारना' अर्थ करनेवाला भी 'अघ्न्या' शब्दकी शक्तिसे 'गो'का 'गाय' अर्थ कभी नहीं कर सकता । अन्य पशुओंका नाम 'अघ्न्या' न आकर केवल गाय-बैलका नाम ही 'अघ्न्या' या 'अघ्न्य' यह विशेष नाम आनेसे गाय-बैल कभी वध्य नहीं हो सकते । तब यह 'अघ्न्या' शब्द चाहे यज्ञकर्ममें माना जाय, या यज्ञकर्मसे बहिर्भूत माना जाय, सर्वत्र गायकी विशेषता व्यक्त कर रहा है ।

नहीं तो जब सभी प्राणी **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** इस श्रुतिसे अवध्य कहे गये हैं, पर अन्य किसीका नाम 'अघ्न्य' न कहकर इसी गायका 'अघ्न्या' यह नाम उसका यज्ञ हो या अयज्ञ, उसमें अवध्यत्व सूचित कर रहा है । अन्य पशुओंका यज्ञमें वध होनेपर भी 'अवध' माननेसे, गायकी भी तथात्व-प्रसक्तिमें उसके 'अघ्न्या' इस नामकी कोई विशेषता नहीं रहती । पर यज्ञ-अयज्ञादिमें सर्वत्र उसके वधका विचार मनसे भी न सोचनेसे उसके 'अघ्न्या' नामकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है । अत: 'अघ्न्या' यह गायका नाम न तो अर्थवादमूलक है और न ही सामान्य है कि जिससे यज्ञवधबोधक वचनोंसे बाधित हो जाय । हाँ, कई भाष्यकार उसकी यज्ञमें वध्यता लिख गये हों, यह उनके एकदेशी विचार हो सकते हैं । उनमें हमारे विचारसे वेदमूलकता नहीं ।

गोमेधमें भी साक्षात् गाय वध्य नहीं होती, किन्तु वह व्रीहिसे बनी होती है, उसीका होम होता है । अथर्ववेदसंहिताके दशमकाण्डके नवमसूक्तमें शतौदना गायके यागका वर्णन आता है, वह सौ अथवा अनेक तण्डुलोंसे बनायी जाती है । इस प्रकारकी सूचना महाभारतमें भी आयी है । वहाँ अनुशासनपर्वमें कहा है-

श्रूयते हि पुरा काले नृणां व्रीहिमय: पशु: ।
येनायजन्त यज्वान: पुण्यलोकपरायणा: ॥ (११५।५६)

यहाँ व्रीहिके बने पशुसे यज्ञ कहा है । उसी शतौदना-व्रीहिकी बनी गायमें अस्थि, मांस, लोहित, वध आदि शब्द भी (अथर्व. १०।९।१८)में उपचार से आये हैं । इसप्रकार तिलधेनु, यवधेनु, घृतधेनु आदि गौओंका वर्णन भी महाभारतमें आया है; यह आगे देखिये । यह औपचारिक हिंसा भी याज्ञिकतावश अहिंसा मानी जाती है, इसीकेलिये मनुस्मृतिमें कहा है-

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिँश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ ॥ (५।४४)

घृतपशु तथा पिष्ट (आटे या चावलोंके) पशुकी सूचना वहाँ भी आयी है-

कुर्याद् घृतपशुं संगे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदाचन ॥ (५।३७)

तो याज्ञिकपशुवधके अहिंसा होनेपर भी गायका 'अघ्न्या' यह विशेष नाम उसको कहीं भी मारने नहीं देता । नहीं तो देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ आदिमें भी उसका हनन अन्य पशुओंकी तरह अहिंसा सिद्ध हो जानेपर भी उसका नाम 'अघ्न्या' यह केवल गौरवमात्र (व्यर्थ) हो जाता, पर यह विशेष शब्द किसी भी समय गायको मारनेकी अभ्यनुज्ञा नहीं देता, तब 'गोघ्न' शब्दमें भी गायको मारना कभी भी तात्पर्यका विषय नहीं है ।

उत्तररामचरितमें भी वैसा करनेवालेको व्याघ्र या वृक कहकर उसका अपमान किया गया है । तो वहाँ भी 'मड़मड़ायिता'का अर्थ गायका बिलबिलाना ही है, मारना नहीं, क्योंकि यह कोई मरनेका पर्यायवाचक नहीं । फलतः 'गोघ्न'में 'गोघातक' अर्थ सर्वथा नहीं । यह पाठकोंने समझ लिया होगा । तभी वेद में **'आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम्'** (ऋ. १।११४।१०) यहाँ गोहननकर्ता को अपनेसे दूर हटा देना कहा है ।

ऐतरेयब्राह्मणका अतिथिसत्कार

पूर्वपक्ष

'राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्' (३।४।१।२) इस शतपथके वचनमें 'पचेत्'से चाहे वृषभका पकाना अर्थ दीख रहा है, मारना नहीं; तथापि पकाना कहनेसे वृषभका मारना अर्थापत्तिसे निकल आता है । तभी ऐतरेयब्राह्मणके ऐसे वचनमें- **'यथैव अदो मनुष्यराजे आगते अन्यस्मिन् वा अर्हति (आगते) उक्षाणं वा, वेहतं वा क्षदन्ते'** (१।१५)

उक्षा (बैल)का तथा गर्भघातिनी गायका वध स्पष्ट कहा गया है । क्षद् धातुका अर्थ श्रीहरदत्तने गौतमधर्मसूत्रकी (२।८।३०) व्याख्या के प्रसंग में उक्त ऐतरेयब्राह्मणके वचनको उद्धृत करके 'हिंसा ही है' यह सूचित किया है । श्रीभट्टोजिदीक्षितने भी उणादियोंमें इसीप्रकारका अर्थ किया है । तब शतपथके वचनमें भी पच् धातुका 'व्यक्तीकरण' अर्थ संगत नहीं मालूम पड़ता । शतपथ और ऐतरेयमें इस विषयमें ऐकमत्य होनेसे 'प्राचीन भारतमें गोवध हुआ करता था' यह मत गोविरोधियोंको ठीक मालूम पड़ता है । 'गोघ्न' शब्द भी उसी का उपोद्वलक हो सकता है ।' (एक प्रमादी सुधारक)

उत्तरपक्ष

'महोक्षं पचेत्' तथा **'गोघ्नः'** इस विषयमें हम युक्ति-प्रमाणपूर्वक समाधान कर चुके हैं । अब ऐतरेयके प्रमाणपर विचार किया जाता है- **'मनुष्यराजे (नृपतौ) आगते, अन्यस्मिन् वा अर्हति (प्रशंसनीये आगते) उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते'**

इस वचनमें क्षद् धातुका अर्थ विचारणीय समस्या है । उक्षाका अर्थ तो वृषभ यह प्रसिद्ध है, लेकिन वेहद्का **'पोटा-युवति-स्तोक-कतिपय-गृष्टि-**

धेनु-वशा-वेहद्-बष्कयणी-प्रवक्तृ-श्रोत्रियाध्यापक-धूर्तैर्जातिः' (२।१।६५) इस समाससूत्रमें श्रीभट्टोजिदीक्षितने **'गोवेहत्-गर्भोपघातिनी गौः'** यह अर्थ किया है । ऐसा ही पाठ **'वेहद् गर्भोपघातिनी'** (अमर. २।९।६९)का है; परन्तु ऐतरेयब्राह्मणमें 'वृषभके योगमें गर्भघातिनी' गायके 'क्षदन'का अर्थ कोई भी अभिप्राय नहीं रखता हुआ मालूम पड़ता; इसलिये हमारे विचारमें सामान्य उक्षा (बैल)की प्रतियोगितामें 'वेहद्' भी सामान्य गाय इष्ट है । जैसे- **'गोवशा'**में श्रीदीक्षितने और अमरकोषकारने वशाका अर्थ वन्ध्यागाय किया है । पर अथर्ववेदसंहिताके वशासूक्तमें वशा का 'वन्ध्यागौ अर्थ नहीं; किन्तु 'सामान्यगाय' ही अर्थ है । वैसे ही ब्राह्मणात्मक वेदमें भी 'वेहत्'का **'गर्भघातिका गौः'** यह अर्थ न होकर सामान्यगाय ही अर्थ लेना चाहिये । नहीं तो 'गर्भघातिनी गाय'की प्राप्ति भी टेढ़ी खीर हो जायगी ।

अब क्षद् धातुके अर्थपर विचार करना चाहिये । उक्त ब्राह्मणवचनका यह अर्थ है कि 'राजा या प्रशंसनीय कोई श्रोत्रिय आदि आ जाय' तो उसके आतिथ्यमें वृषभ या गायका क्षदन करे । क्षद् धातु पाणिनिके धातुपाठमें नहीं है, इससे उसका अर्थज्ञान भी उससे नहीं हो सकता; पर **'तृन्-तृचौ-शंसि-क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ'** (२।९४,२५१) इस उणादि (पञ्चपादी) सूत्रमें उस क्षद् धातुका स्मरण किया गया है; अतः यह सौत्र धातु है यह स्पष्ट है; पर इसका अर्थ सूत्रसे भी ज्ञात नहीं हो सकता । श्रीदीक्षितने इस पर लिखा है **'क्षदिः सौत्रो धातुः शकलीकरणे भक्षणे च'** यहाँ श्रीदीक्षितने उस सौत्रके दो अर्थ दिये हैं, एक टुकड़े-टुकड़े करना, दूसरा खाना । यहाँ श्रीदीक्षितने दो प्रमाण भी दिये हैं-

'वृक्ये चक्षदानम्' इति मन्त्राद् 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' इति ब्राह्मणाच्च । इससे इसके अर्थके विषयमें जनतामें बड़ा भ्रम फैला हुआ है । उक्त अर्थ श्रीदीक्षितने ऋग्वेदसंहिताके सायणभाष्यसे उद्धृत किया है; यह तो प्रत्यक्ष है । परन्तु ब्राह्मणवाक्यमें श्रीसायणाचार्यने क्षद् धातुका शकलीकरण (टुकड़े-टुकड़े करना) तथा भक्षण अर्थ नहीं किया । इससे यह सिद्ध हुआ कि क्षद् धातुके यही

दो अर्थ निश्चित नहीं हैं । निघण्टु (२।८)में अत्तिकर्मक 'भक्षणार्थक' धातुओंमें 'क्षद्' धातुका प्रयोग बिल्कुल नहीं है । यह स्मरण रखनेकी बात है । उसीमें वधकर्मक (२।१९) धातुओंमें भी क्षद् धातुका प्रयोग नहीं है, यह भी स्मरण रखलेना चाहिये । अब ऋग्वेदसंहिताके मन्त्रोंमें क्षद् धातुका प्रयोग और उसमें सायणभाष्य भी देखना आवश्यक है । अन्य प्राचीन विद्वानोंने भी इस धातुका क्या अर्थ किया है- इसका भी अनुसन्धान करके देखें । श्रीदीक्षितने क्षद् धातु के प्रयोगमें **'चक्षदान'** (१।११६।१६, ११७।१८) यह ऋक्संहिताका शब्द लिया है । उसमें श्रीसायणने लिखा है- **'क्षदतिः अत्तिकर्मा, अत्र शकलीकरणार्थः'** । इसका यह तात्पर्य निकला कि क्षद् धातुका अर्थ तो भक्षण है, पर औचित्यवश इस मन्त्रमें 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ है । अन्य मन्त्रमें भी उसने भक्षण अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ किया है । **'चक्षदे'** (ऋ. १०।७९।७) का सायणने 'शकलीकरोति' यह अर्थ किया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि- धातुके नियत अर्थपर स्थित न रहकर उसका औचित्यसे प्रतीयमान अर्थ भी ले लिया जाता है । इसीलिये महाभाष्यका यह वचन भी प्रसिद्ध है- **'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा- वपिः प्रकरणे (वीर्याधाने) दृष्टः, छेदने चापि वर्त्तते .....। करोति रभूत-प्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते, निक्षेपणे चापि वर्त्तते । एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह, तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिम्'** (१।३।१) ।

इसप्रकार जब एक ही क्रियाके परस्पर दो विरुद्ध अर्थ भी (जैसे- 'स्था' धातुका ठहरना और चलना) हो सकते हैं; तो औचित्यवश प्रतीयमान हुए धातुके अनादिष्ट अर्थको ले लेना भी व्याकरणसे विरुद्ध नहीं ।

इसप्रकार 'भक्षण'का 'अपने उपयोगमें लाना' उसका उपयोग या स्वीकार करना' अर्थ भी होता है, यह हम पूर्व 'दायाद' शब्दके उदाहरणको देकर सूचित कर चुके हैं । (ऋ० १।२५।१८) मन्त्रमें श्रीसायणाचार्यने लिखा है- **'हविः क्षदसे-अश्नासि'** यह भक्षण अर्थ करके उसने फिर **'हविःस्वीकारादूर्ध्वम्'** यहाँ अशन (भक्षण)का तात्पर्य 'स्वीकार' भी लिखा है । जबकि क्षद् धातुका अर्थ खाना है; तो क्या वह

अर्थ श्रीदीक्षितसे लिखे **'उक्ष्णां वेहतं वा क्षदन्ते'** इस बह्वृच्-ब्राह्मणके पदमें दीखता है? तब तो फिर यह अर्थ हो जायगा कि 'राजा वा श्रोत्रियके आनेपर वृषभ या वेहत्‌को खाते हैं'। क्या यह अर्थ यहाँ घट रहा है? यह अर्थ करनेपर अतिथिके भोजनका अर्थ न होकर अतिथिपरिचारकका वेहत्‌को स्वयं खाना' अर्थ हो जायगा। श्रीहरदत्तने अतिथिसे भिन्नको उसका खाना निषिद्ध किया है, यह गत निबन्धमें हम लिख ही चुके हैं। यदि यहाँ अशनका अर्थ 'स्वीकार' कर लिया जाय तब 'गाय-बैलको स्वीकार करते हैं' अर्थात् अतिथिकेलिये लाते हैं। यह संगत तात्पर्य निकल सकता है।

जिस 'क्षद्' धातुके प्रयोगप्रदर्शनार्थ श्रीदीक्षितने उणादिमें बह्वृच्-ब्राह्मणका वचन उद्धृत किया; उसमें 'क्षदन्ते' का न तो 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ घटता है न 'खाना' ही। 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ तो अत्यन्त अनुचित होता। श्रीसायणने यह दोनों ही अर्थ नहीं किये। इसका आशय यह हुआ कि उक्त ब्राह्मणवाक्यमें ये दोनों ही अर्थ अनिवार्य नहीं। सायणने इसका यह अर्थ किया है-

'महति मनुष्यभूपतौ, अन्यस्मिँश्चिद् विद्या-वृत्तादिसम्पन्नत्त्वेन अर्हति-पूज्ये महति ब्राह्मणेऽब्राह्मणे वा गृहं प्रत्यागते सति, अतिथिसत्कारार्थं शास्त्रकुशलाः केचिद् उक्षाणं वृषभं वा, वेहतं-गर्भघातिनीं वृद्धां गां वा क्षदन्ति-हिंसन्ति। अयं सत्कारः स्मृतिषु प्रसिद्धो युगान्तरधर्मो द्रष्टव्यः। एवमेव सोमाय अतिथिसत्कारार्थं क्षदन्ते, अग्नेर्देवपशुत्वात्'।

यहाँपर 'शकलीकरण या अशन' यह दोनों ही अर्थ न करके तीसरा हिंसा अर्थ किया गया है। श्रीदीक्षितने जो कि श्रीसायणभाष्यके अनुसार उणादिमें क्षद् धातुका अर्थ दिया है, तब ब्राह्मणवाक्यके उद्धरणमें उसे तीसरा अर्थ हिंसा भी लिखना चाहिये था, पर उन्होंने नहीं लिखा। इससे सिद्ध हुआ कि- क्षद् धातुके केवल उक्त अर्थ ही सीमित नहीं हैं, किन्तु अन्य अर्थ भी हैं।

परन्तु श्रीसायणाचार्यका किया हुआ यह अर्थ पुनः विचारणीय है। जबकि श्रीसायणने अपने वेदभाष्यके बहुधा स्थलोंमें वेदानुसार गाय-बैलके लिये प्रयुक्त

अघ्न्या या अघ्न्यका अर्थ अहन्तव्य (नहीं हनन करनेयोग्य) ही किया है, तब उनकेद्वारा यहाँ हिंसा अर्थ कैसे ले लिया गया? अथवा- यदि **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** यह सिद्धान्त माना जाय; तब भी तो यहाँ हिंसा अर्थ करना ठीक नहीं रहता; परन्तु उसने उसे युगान्तरका अर्थ बताकर इस युगमें उसकी कर्तव्यता निषिद्ध कर दी। बात वही निषेधकी निकली, केवल द्रविड-प्राणायामका नाटक हो गया।

अथवा 'हिंसासे 'ताड़ना' भी कही जाती है; जैसेकि हम **'अघासु हन्यन्ते गावः'** (ऋ०) इस मन्त्रके सायणभाष्यानुसार गत निबन्धमें कह चुके है। निरुक्त (१।३।२)में 'हस्त' का **'हन्तेः प्राशुर्हनने'** यह निर्वचन किया गया है। यहाँ हननका अर्थ भी ताडन है, प्राणवियोजन-मारना नहीं। **'क्षत्ता सारथिर्वा अधिष्ठाता'** (अथर्वसं०५।१७।१४,९।११।१)का नाम भी रथके अश्वके हाँकने या ताड़नसे है, जानसे मारनेसे नहीं। अतिथिके पास लानेकेलिये गाय-बैलको हाँका जाता है, यह उसकी हिंसा है। इस प्रकारके तात्पर्य होनेपर श्रीसायणका उसे युगान्तरका धर्म बतलाना भ्रम ही होगा। वृद्धा गायकी जब गर्भप्राप्ति नहीं, तब उसका गर्भघातन भी क्या होगा? अतः यह अर्थ भी ठीक नहीं, इस विषयमें पहले हम कह चुके हैं।

फिर प्रकरणपर आना चाहिये- क्षद्धातुके दो अर्थोंसे भिन्न तीसरे अर्थके बतानेसे सौत्र क्षद् धातुके अन्य अर्थ भी हो सकते हैं- यह सूचित होता है। अब इस विषयमें अन्य विद्वानोंका मत भी देखना चाहिये। श्रीसायणाचार्यने यहाँ क्षद् धातुका हिंसा अर्थ क्यों किया? यह भी विचारनेकी बात है। हमारे विचारमें उनके सामने भ्रम डालनेवाली **'खद् स्थैर्ये हिंसायां च, चाद् भक्षणे'** यह धातु आयी थी। जब ऐसे ही है; तब उस भिन्न धातुका अर्थ यहाँ लिया ही क्यों जाय? 'कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजुआ तेली'? कहाँ खद् धातु कहाँ क्षद्? यदि भिन्न धातुका अर्थ यहाँ लेना भी है; तो 'अघ्न्या'की हिंसाके असम्भव होनेसे यहाँ उसका हिंसा अर्थ न लेकर उसका पहले कहा हुआ स्थिरता अर्थ ही लेना चाहिये। जैसेकि **'क्षद्म'**

शब्दके निर्वचनके अवसरपर श्रीस्कन्दस्वामीने लिखा है– **'क्षद् स्थैर्ये'** । यही देवराजयज्वाने भी **'स्वकार्ये स्थिरं भवति, जलाशयं व्याप्य स्थिरीभवतीति वा'** (नि० **१।१२।३**) यह लिखा है । तब यहाँ भी अर्थ होगा कि जब अतिथि आये तब अतिथिको देनेकेलिये गाय–बैलको स्थिर करे' यह भी अर्थ यहाँ संगत हो जाता है । सुबोधिनीकारने जलवाचक 'क्षद्म'में **'क्षद् गतिहिंसनयो:'** धातु मानी है । **'क्षदति-हिनस्ति पिपासामुष्णतां वा अभीप्सितं वा पुरुषम् '** पर यहाँ अघ्न्याकी हिंसा सम्भव न होनेसे 'गति' अर्थ भी हो सकता है । **'क्षदन्ति' अतिथिपाश्र्वे गां गमयन्तीति'** यह अर्थ भी यहाँ संगत हो जाता है । अति–ईप्सित पुरुषकी भी हिंसा नहीं हुआ करती, किन्तु आनयन हुआ करता है ।

'क्षत्ता' पदकी सिद्धिकेलिये अमरकोषकी सुधा–व्याख्यामें श्रीभट्टोजिदीक्षितके पुत्र श्रीभानुजीदीक्षितने लिखा है– **'क्षद् संवरणे सौत्रः'** (२।८।५९) यहाँ क्षद् धातुका संवरण अर्थ किया गया है । यही अर्थ उन्होंने **'क्षत्रियः'**(२।८।१)में भी लिखा है । क्षत्ताकी सिद्धिकेलिये पदचन्द्रिकाटीकाकारने धातु लिखी है– **'क्षद् स्थैर्ये हिंसायां च'** । इसका खण्डन करते हुए श्रीभानुजीदीक्षितने लिखा है– **'तदपि न, उक्तपाठस्यादर्शनात्, खद् स्थैर्ये- (भ्वा.प.से.) इति पाठस्य दर्शनाच्च'** । यही मुकुट वाला भ्रम श्रीसायणको भी हुआ । 'खद्' धातुका अर्थ 'क्षद्' धातुमें कैसे किया जाय? उक्त ब्राह्मणवाक्यमें संवरणका सम्यक्–वरण अर्थ भी संघटित हो सकता है । इसमें भी हिंसा अर्थ नहीं रहता । (अमर.२।१०।३) पद्यमें श्रीभानुजीदीक्षितने 'क्षत्ता' यहाँ लिखा है– **'क्षदति, क्षदते वा, क्षद् सम्भृतौ'** यहाँपर क्षद् धातुका सम्भरण अर्थ भी सूचित किया है । अघ्न्या गाय और अघ्न्य बैलकी हिंसा असम्भव होनेसे यहाँ 'गाय–बैलको अतिथिको देनेकेलिये पालित करते हैं' यह अर्थ भी संगत हो सकता है । उक्त ब्राह्मण–वाक्यमें निमित्त अर्थमें सप्तमी मानी जा सकती है ।

इस अनुसन्धानसे सिद्ध हो रहा है कि क्षद् धातुके बहुतसे अर्थ हुआ करते हैं, केवल हिंसा या भक्षण अर्थ ही नहीं होता । जो अर्थ जहाँ उपयुक्त सिद्ध हो और किसी सिद्धान्तसे विरुद्ध न पड़े वहाँ वही अर्थ करना ठीक हुआ करता है, उससे भिन्न अर्थ करना नहीं । यदि **'गंगायां घोषः'**में लक्ष्य अर्थ है; तो **'गंगायां महिषास्तरन्ति'**में पूर्व की तरह लक्ष्य अर्थ कर देना ठीक नहीं हो जाता, जबकि यहाँ कोई अनुपपत्ति नहीं होती । यही बात न्यायकुसुमाञ्जलिमें श्रीउदयनाचार्य ने कही है-

श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन संगतिः ॥(३।१२)

अर्थात् अन्विततामें अन्य अर्थकी आकांक्षा नहीं रहती; अन्विततामें ही 'संगत्यर्थ' अन्य अर्थ करना पड़ता है । तब अघ्न्याके हननमें अनन्वितता आनेसे ही वह अर्थ न करके अन्य अर्थ संगत्यर्थ देखा-भाला जाता है ।

अब इस विषयमें वेदकी तथा उसमें श्रीसायणाचार्यके भाष्यकी एक और साक्षी भी पाठकगण देखें; जिससे यह पक्ष स्पष्ट और पुष्ट हो जाता है ।

'क्षत्ता वामस्य देव! भूरे' (ऋ०६।१३।२) यहाँपर क्षत्तामें जो क्षद् धातुका ही रूप है । श्रीसायणाचार्य लिखते हैं **'ऋतस्य उदकस्य यज्ञस्य वा, क्षत्ता-क्षदतिरत्र दानकर्मा, दाता भवसि'** । यहाँ श्रीसायणने स्पष्ट लिखा है कि क्षद् धातुका अर्थ दान भी हुआ करता है । यहाँ विचारणीय है कि श्रीसायणने अपने शब्दोंसे हिंसा अर्थमें प्रसिद्ध भी क्षद् धातुका हिंसा अर्थ न करके क्यों उसका दान अर्थ किया है? स्पष्ट है कि यहाँ हिंसार्थ समन्वित नहीं होता । अतः दान अर्थ किया गया । यदि ऐसा है तब उक्त ब्राह्मणवाक्यमें भी अतिथिके आनेपर अघ्न्या एवं अघ्न्य गाय-बैलका भी दान ही अर्थ प्रतिफलित हुआ है और प्रकृत सिद्ध हुआ; क्योंकि- अघ्न्याकी हिंसामें अनुपपत्ति पड़ती है । क्या यात्राके समयमें- **'सैन्धवमानय'**का 'नमक लाना' अर्थ समझदारीका होगा और घोड़ेका लाना

नासमझीका? प्रकृत प्रकरणमें तो गौ अथवा वृषभको अघ्न्या या अघ्न्य सिद्ध करना ही हमारा तात्पर्य है ।

फलतः उक्त बह्वृच्-ब्राह्मणके वाक्यमें **'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते'**का **'वृषभं गां ददति'** यही सिद्ध एवं उपपन्न हुआ । ऐसा होनेपर-

'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (१।५।१९९)

इस याज्ञवल्क्यस्मृतिके तथा ऐतरेयब्राह्मणके वचनकी एकवाक्यता भी प्रतिफलित हो गयी । उपकल्पनका अर्थ भी दान है । मिताक्षराने इतने दान करनेमें असम्भव देखकर उस अतिथिके सत्कारार्थ उसे वाचिक कह देनेमात्रका अर्थ कर दिया है । उसमें साँड़ोंके दान अर्थमें असम्भव अवश्य है, क्योंकि श्रोत्रियोंको देनेकेलिये इतने साँड़ एक पुरुषके पास कैसे होगें? परन्तु यहाँ तो साधारण बैल और साधारण ही गाय कही गयी है, अतः यहाँ दान अर्थमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं रहती । 'वेहत्' शब्दका विशेष गाय (गर्भ गिरानेवाली) अर्थ भी यहाँ ठीक नहीं । वह किसी भी पक्षमें ठीक नहीं, क्योंकि वैसी गौएँ भी साधारण रूपसे नहीं मिलतीं । जब दान अर्थ हुआ और दान है, त्यागका नाम तो-

'त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्' ॥

(वाल्मीकि० ७।१०५।१३)

तो यह भी गायकी त्यागरूप 'हिंसा' ही प्रतिफलित हुई; तब क्षद् धातुका प्रसिद्ध अर्थ हिंसा भी यहाँ सम्बद्ध रहा, जो अतिथिकेलिये अभ्यनुज्ञात किया गया है, इसी अर्थमें गोघ्न भी अतिथिका नाम उपपन्न हो गया, पर अघ्न्याकी साक्षात् हिंसा उपपन्न न हुई ।

इस प्रकार इन प्रसिद्ध प्रमाणोंका समाधान हो गया कि- **'महोक्षं पचेत्'** में **'व्यक्तीकुर्यात्'** अर्थ है और **'उक्षाणं क्षदन्ते'** का **'वृषभं ददति'** यह अर्थ है । क्षद् धातु यहाँ दानार्थक है । जबकि क्षद् धातुका अर्थ दान भी वेदमें मिलता है,

श्रीसायणाचार्यने उसे लिखा भी है और गोदान की महिमा से जब सारे वेदादिशास्त्र भी भरे हुए हैं तब वही अर्थ सभी दृष्टियोंसे ठीक है, संगत भी है, वही उत्तरपक्ष है ।

तो जो कि गौतमधर्मसूत्रकी टीकामें श्रीहरदत्तने तथा प्रकृत ब्राह्मणके भाष्यमें श्रीसायणने 'क्षदन्ते'का हिंसा अर्थ समझा, श्रीदीक्षितने उणादिमें जो उक्त धातुका शकलीकरण या भक्षण अर्थ लिखा, अघ्न्यामें जिसकेलिये श्रीयास्कने लिखा है ।

'अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नी वा'

(नि० ११।४३।२)

(किसीसे न मारनेयोग्य तथा हमारे पापको दूर करनेवाली) श्रीदुर्गाचार्यने इसकी व्याख्यामें लिखा है-

'सा हि सर्वस्यैव अहन्तव्या भवति' ।

श्रीदेवराजयज्वाने भी यही समर्थित किया है । **'न हन्यते'** यह भानुजीदीक्षित (अमर० २।९।६७) आदिने लिखा है- अब अघ्न्यामें उस हिंसा अर्थका असम्भव होनेसे यहाँ अघ्न्य-वृषभ एवं अघ्न्या-गायका स्वीकार, स्थिरीकरण, संवरण, सम्भरण, गमन, लाना, विशेष करके श्रीसायणके (ऋ०६।१३।२) मन्त्रार्थानुसार 'क्षदन्ते'का उस अतिथिको दान या उसके सत्कारार्थ मौखिक दान अथवा हिंसा अर्थमें भी (ऋ०१०।८५।१३) मन्त्रके सायणभाष्यानुसार अतिथिके पास लानेकेलिये हाँकना या डण्डेसे ताड़न करना अर्थ ही प्रतिफलित हुआ, जिससे पूर्वपक्षियोंका अभिमतपक्ष खण्डित हो जाता है ।

क्षद् धातुमें हिंसा अर्थ या भक्षणार्थका भ्रम इन विद्वानोंको इसलिये पड़ा कि धातु पाठमें जहाँ धातुओंके अर्थ लिखे होते हैं; उन्हें क्षद् धातु तो मिली नहीं, पर **'खद् स्थैर्ये हिंसायां च, चाद् भक्षणे'** यह धातु सामने आ गयी; अत: उन्होंने क्षद् धातुका खद् धातुवाला अर्थ कर दिया । पर धातुपाठमें पठित 'खद्' धातुका जो अर्थ हो; 'ख'के स्थानमें 'क्ष' अक्षरवाली सौत्र-धातुका भी वही अर्थ हो, यह कोई राजाकी आज्ञा नहीं कि मान ली जाय । जबकि 'क्षद्' धातुका अर्थ 'दान' भी

मिलता है, और वह अर्थ यहाँ संगत भी है; जबकि शतपथादिमें **'धेन्वनडुह'**का अशन या हनन निषिद्ध एवं निन्दित बताया गया है; पुनः वेदादिशास्त्रमें गोदानकी महिमा भरी पड़ी है, शतपथब्राह्मण तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि भी मधुपर्कमें गाय-बैलका दान या प्रकाशन चाहते हैं । जबकि शतपथके १४वें काण्डरूप बृहदारण्यकमें श्रीयाज्ञवल्क्य **'गोकामा एव वयं स्मः'** (१४।६।१।४, ११।६।३।२) इस प्रकार गौओंको प्राप्त करना चाहते हैं, तब इन सबकी एकवाक्यतासे ऐतरेय-ब्राह्मणके उक्त वचनमें भी गाय-बैलका क्षदन 'दान' ही सिद्ध हुआ अथवा उसका 'वध' अर्थ भी माना जाय; तो उस वधका उस गाय बैलका अपनेसे पृथक्करणरूप त्यागमें पर्यवसान हुआ करता है; इसलिये **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते'** (यजु:३०।५) इत्यादि मन्त्रोंमें हिंसार्थक 'आलभ' धातुके होनेपर भी ब्राह्मणादियोंके वधका स्थानापन्न त्याग ही किया जाता है, जैसेकि (यजु:३०।२०)के नरमेधयज्ञमें श्रीमहीधराचार्यने लिखा है- **'तत आलम्भनक्रमेण यथा दैवतं प्रोक्षणादि । ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरम्- इदं ब्रह्मणे, इदं क्षत्राय- इत्येवं सर्वेषां स्वस्वदेवतोद्देश्येन त्यागः । ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विसृज्य उत्सृजति'**

यहाँ 'त्याग' भी एक प्रकारसे वध ही प्रतिफलित हुआ । भगवान् श्रीरामचन्द्रने- जब वे कालसे गुप्त बातचीत कर रहे थे तब भीतर घुसनेवालेका वध प्रतिज्ञात किया था; उस समय कार्यवश आये हुए लक्ष्मणका भी 'वध' उपस्थित हुआ । तब श्रीरामने-

विसर्जये त्वां सौमित्रे! मा भूद् धर्मविपर्ययः ।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ।।

(वा.रा.७।१०५।१३)

यह कहकर उस साधुका वधस्थानापन्न 'त्याग' कर दिया था; इस प्रकार साध्वी गायका अपनेसे पृथक् करके त्याग कर देना भी उसके वधरूपमें पर्यवसित हो जाता है; इसमें भ्रमका अवकाश नहीं रहता । उस गायका ताडित करके लाना- जो उस समय स्वाभाविक हुआ करता है- यह भी हिंसारूप हो जाता है । अथवा

'क्षद्' धातुके भक्षण अर्थमें भी उसका तात्पर्य उपयोग-वाचकतामें भी हो जाता है; जैसा कि- **'मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते'** (म.शा.२६२।३८) यहाँ तथा **'जीवो जीवस्य भोजनम्'** इस अर्थमें सचमुच 'खाना' अर्थ नहीं हो जाता । अतः 'उपयोग' अर्थ भी सिद्ध है, इसप्रकार 'स्वीकार' अर्थ भी सिद्ध है- यह विद्वान् पाठकोंने समझ लिया होगा । इन वाक्योंमें अब हनन अर्थकी भ्रान्ति हट जानी चाहिये ।

महाभारतके शान्तिपर्वमें वेदके अर्थकी इन्हीं भ्रान्तियोंकेलिये कहा है-

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्! नास्तिकैः संप्रवर्तितम् ।
वेद-वादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥(२६३।६)

वहाँपर सत्पुरुषोंका मार्ग यह बताया है कि-

सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया ।(२६३।२५)
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ।(२६)

शान्तिपर्वके **३३६**वें अध्यायके **३,४,८-९** पद्योंके अनुसार हुए यज्ञमें बृहस्पति होता, मेधातिथि, ताण्ड्य, वेदशिराः, कपिल, कठ, तित्तिर, कण्व आदि **१६** वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषि सदस्यरूपसे उपस्थित थे । उस यज्ञके वर्णनमें वहीं कहा है-

सम्भूताः सर्वसम्भाराः तस्मिन् राजन् ! महाक्रतौ ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः ॥(३३६।१०।११)

ऐसे ऋषियोंकी उपस्थितिमें जब पशुवध न हुआ; तब किसी भी यज्ञमें चाहे वह अतिथियज्ञ हो; अथवा देवयज्ञ; उसमें गोवध कैसे माना जा सकता है? जैसे 'नृयज्ञ'का अर्थ 'नृहिंसा' नहीं होता, किन्तु नृपूजा ही होता है; वैसे ही गोयज्ञमें भी गायका पूजा अर्थ ही होता है, हिंसा नहीं ।

शतपथके **'महोक्षं पचेत्'**का अर्थ **'व्यक्तीकरण'** है- यह हम सिद्ध कर चुके हैं । 'पच्' धातु सदा अन्नपाक अर्थमें ही नहीं प्रयुक्त होती, किन्तु **'पक्वप्रज्ञ'**की

तरह परिणत, स्पष्ट, प्रवृद्ध आदि अर्थमें भी प्रयुक्त होती है । कहीं उक्षाका पाक 'सोमरसका दुग्धमें पाक' अर्थ भी हो जाता है, जैसे- **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'**में निरुक्त (**२।५।४**)में प्रसिद्ध है । इसीलिये **'गोपाकः'**का **'गोदुग्धपाकः'**भी अर्थ है; क्योंकि यास्कानुसार 'गो' शब्द गोदुग्धका वाचक भी है । इस प्रकार वृषभपाकमें ऋषभ नामक ओषधिका पाक अर्थ भी यथायोग्य जान लेना चाहिये । तब **'महोक्षं पचेत्'**, **'उक्षाणं क्षदन्ते'** आदिमें हिंसा अर्थ समाप्त हो गया ।

शतपथमें पुरोहितका गवाशन निर्मूल

पूर्वपक्ष

शतपथ.(३।१।२।२१)में एक विवाद है कि 'पुरोहितको बैलका मांस खाना चाहिये या गायका? अन्तमें परिणाम कहा गया है कि दोनों ही मांस नहीं खाने चाहिये; परन्तु याज्ञवल्क्य कहता है कि यदि वह मांस नर्म हो; तो खाया जा सकता है'। (कोई वेदाभिमानी)

उत्तरपक्ष

हम यहाँ शतपथका वह पाठ उपस्थित कर देते हैं– जिससे प्रतिपक्षियोंकी बनावट मालूम हो जाय कि कैसे वे निर्मूल अर्थ कर दिया करते हैं; अपने नये प्रकरण बना दिया करते हैं। वह पाठ यह है–

'अथ एनं (यजमान) शालां प्रपादयति । स धेन्वै च अनडुहश्च नाश्नीयात् । धेन्वनडुहौ वै इदं सर्व बिभृतः । ते देवा अब्रुवन्- धेन्वनडुहौ वै इदं सर्व बिभृतः । यदन्येषां वयसां वीर्यम्, तद् धेन्वनडुहयोर्दधाम इति । यदन्येषां वीर्यमासीत; तद् धेन्वनडुहयोरदधुः । तस्माद् धेनुश्चैव अनड्वाँश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तः । तद् ह एतत् सर्वास्यमिव, यो धेन्वनडुहयोरश्नीयात् । अन्तगतिरिव तं ह अभिद्रुतमभिजनितो जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकद् इति पापी कीर्तिः । तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात् । तदु ह उवाच याज्ञवल्क्यः:- अश्नाम्येव अहम् अंसलं चेद् भवतीति' (३।१।२।२१) ।

जबकि इस कण्डिकामें 'मांस'का नाम ही नहीं है, तब इस प्रकारका अर्थ प्रतिपक्षी कैसे कर सकते हैं? अथवा वह अर्थ माना भी जाय; किन्तु जब श्रुति गाय या वृषभके अशनका निषेध उपपत्ति देकर कर रही है, वैसे व्यक्तिको गर्भका

हत्यारा, सर्वभक्षी और पापी कहती है, तो गाय-बैलके खानेका तो प्रतिपक्षीके अनुसार भी निषेध सिद्ध हो गया । इसीको अनुसृत करके 'कात्यायन-श्रौतसूत्र'में भी कहा है- **'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'**(७।२।२२) इसका अर्थ कर्कभाष्यमें इस प्रकार किया है **'धेन्वनडुहयोर्मांसं नाशितव्यम्'** तब यह जो पूर्वपक्षीने प्रश्न उठाया है कि पुरोहितको बैलका मांस खाना चाहिये अथवा गायका । यह तो बात गलत तथा उसकी अपनी गढ़ी हुई निकली, क्योंकि ऐसा प्रश्न होनेपर तो उत्तर देनेके समय दोनोंमें एककी अभ्यनुज्ञा अवश्य होती; पर यहाँ तो दोनोंके ही अशनका **'तस्माद् धेन्वनडुयोर्नश्नीयात्'** इस उपसंहारसे निषेध सिद्धान्तित कर दिया; तब प्रतिपक्षीसे उठाया हुआ प्रश्न ही निर्मूल सिद्ध हुआ ।

जैसा कि प्रतिपक्षीने दोनोंमें एकके मृदु (नर्म) मांस होनेपर याज्ञवल्क्यके मतमें पुरोहितके अशनकी अभ्यनुज्ञा बतायी है; वह भी बनावटी ही है । वह **'अश्नाम्येव अहम्'** इस मूलसे विरुद्ध ही है । यहाँ तो याज्ञवल्क्यका व्यक्तिगत अशन सूचित-सा हो रहा है, यहाँ **'अहम् अश्नामि'** यह पद तथा उत्तमपुरुषकी क्रिया प्रत्यक्ष ही है । तब यह व्यक्तिगत कार्य समष्टिगत कैसे माना जा सकता है? और फिर उसमें विधिलिङ्ग भी नहीं है कि वह सर्वसाधारणकेलिये आज्ञा हो जाय । वैयक्तिक जब शास्त्रीय-सिद्धान्तके विरुद्ध हो; तब सर्वसाधारणकेलिये कभी विधि नहीं बन जाती; वह अपवाद होती है । अपवाद-वचन उसी अपने स्थलमें संकुचित हो जाता है, उत्सर्ग (सामान्य-शास्त्र)को कभी बाधित नहीं कर सकता । अपवाद किसी सिद्धान्त (उत्सर्ग)का खण्डन नहीं करता, वह उत्सर्गमें किसी विशेषकेलिये संकोचमात्र कर सकता है । प्रत्येक औत्सिर्गिकवचनका अपवाद भी क्वचित् होता है । सत्य बोलना उत्सर्ग है, पर किसी धार्मिकके प्राण आदि बचानेकेलिये अथवा किसी अन्यायी या उसके साथीके मारणार्थ असत्य बोल देना अपवाद है । यदि अपवाद उत्सर्गका खण्डन कर दे; तब तो **'सत्यमेव जयते'** (मुण्डको० ३।१।६) यह सिद्धान्त ही न रह जाय । अतः शास्त्रकारोंने अपवादको केवल इतना ही अवसर दिया है कि वह विधिशास्त्रमें स्वातिरिक्ततत्वेन संकोच भर

कर सके, तब– **'प्रकल्प्य (उत्सृज्य वा) अपवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते'** (महाभाष्य **३।१।१२४**)

इस नियमसे शेष सर्वत्र उत्सर्ग ही बच जाता है । इस प्रकार उत्सर्ग एवं अपवादकी एकवाक्यता हो जाती है । इसी तरह याज्ञवल्क्यके वैयक्तिक कथनसे जिसमें कि उत्तम पुरुष ज्ञापक है– न तो उसके कथनमात्रसे गवाशनका सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है और न **'तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'** इस श्रौतसिद्धान्तका खण्डन किया जा सकता है ।

यह सब हमने प्रतिपक्षीके अर्थको मानकर वादितोषन्यायसे उत्तर दिया; वस्तुतः पूर्वपक्षीका यह अर्थ ही गलत है । यहाँ प्रकरण ही भिन्न है, श्रीसायणाचार्यने उसे स्पष्ट कर दिया है । वह यह है कि जब यजमान क्षौर कराकर स्नान करके वस्त्र पहने; तब अध्वर्यु उसका शालामें प्रवेश कराये । तब प्रवेशकर्ता यज्ञदीक्षाके पूर्त्यर्थ उपवास करे; तब गोदुग्धसे निर्मित मलाई, रबड़ी आदि, तथा बैलसे कृष्ट अन्नादि न खाय । यहाँ श्रीसायणके शब्द ये हैं– **'अस्यापि (शालाप्रवेशकर्तुः) अशनकालत्वादत्राशने किञ्चिन् नियममाह- धेन्वै- धेनोः क्षीरादिकम्, अनडुहः सम्बन्धि कर्षणसाध्यमित्यर्थः, तदुभयं नाश्नीयात् । तदश्नतः सर्वाशनं भवति, तस्य च जायाया गर्भसम्भवे सति तत् सर्वाशनं तं रेतोरूपेण परिणतं गर्भं हिंस्यात्, तत्पापकीर्तिः स्यात् । तदुभयोः (धेन्वनडुहयोः) (पायसम्) अन्नं (च) नाश्नीयात् । तत्र याज्ञवल्क्यपक्षमाह- चेत्-यस्मादुभया (धेन्वनडुहा)न्नाशने शरीरमंसलं (बलवद्) भवति, तस्मात् तयोरन्नमश्नीयामेव'** ।

उक्त कण्डिकामें 'धेन्वै'में षष्ठी–अर्थमें चतुर्थी (**२।३।६२** इस कात्यायनके वार्त्तिकसे) है; यहाँ द्वितीया नहीं है; जो कि प्रतिपक्षी द्वितीयाका अर्थ करते हैं । इससे स्पष्ट है कि यहाँ याज्ञवल्क्यका गोदुग्धसे निष्पन्न पायस आदि तथा बैलसे कृष्ट अन्नका अपनेलिये खाना कहा है– जो शालाप्रवेशककेलिये निषिद्ध था; तब याज्ञवल्क्यके ऊपर भी कोई दोष नहीं पड़ता । बहुतोंके अनुसार यह सोमयागका

प्रकरण है; उसमें उपवास करना पड़ता है। यज्ञसमाप्तिसे पूर्व खाना देवताओंका अपमानकारक होता है। अब प्रश्न हुआ कि यज्ञकर्ता सर्वथा अनशन करे; तो यज्ञके दीर्घ होनेसे कृशतावश वह यज्ञ कैसे कर सकेगा? तब उसे खाना तो अवश्य ही कुछ चाहिये; पर वह खाना न खाने जैसा हो; थोड़ा पायस खाये अथवा खेती का अन्नविशेष? पर उत्तरमें गायके दुग्धजन्य तथा बैलके कर्षणजन्य अन्न दोनोंके खानेका निषेध कर दिया गया। परन्तु याज्ञवल्क्यका मत है कि दुग्धादिसे शरीर अंसल 'बलयुक्त' होता है, अतः उसे अल्पमात्रामें खा लेनेमें हानि नहीं है।

फलतः यहाँ मांसका नाम भी नहीं है; तब उसे इसमें क्यों प्रक्षिप्त किया जाता है? कन्याके घरमें जब हम जायँ; तो उनका कोई व्यक्ति शिष्टाचारवश भोजनार्थ कहे; तब हम उत्तर देते है कि 'हम कन्याका नहीं खाते'। तब क्या यहाँ कन्याका मांस अर्थ कर लिया जायगा?

'तस्मादाहुर्न दीक्षितस्य अश्नीयात्' (ऐतरेय० ६।९)

यहाँ दीक्षित हो चुके व्यक्तिका खाना निषिद्ध किया गया है; तब क्या दीक्षितका मांस खाना कहा जायगा? जो कि प्रतिपक्षी कहता है कि 'यदि वह मांस अंसल-नरम हो, तो खा सकते हैं; तो क्या 'अंसल'का अर्थ 'नरम' होता है? यदि ऐसा है; तो इसमें प्रमाण क्या है? क्या यहाँ कच्चे मांस खानेकी बात चली हुई थी कि कड़े मांसके अर्थकी प्राप्ति उपस्थित हो गयी? क्या मनुष्य कच्चा मांस भी खाता है? वह तो राक्षसका कार्य है, मनुष्यका नहीं। तब उसका यहाँ क्या प्रसंग? 'अंसल'का अर्थ तो बलकारक होता है, देखिये पाणिनिका सूत्र **'वत्सांसाभ्यां कामबले'**(५।२।९८), अमरकोष भी देख लीजिये **'मांसलोंऽसलः'**(२।६।४४)। तो मांसका मांसलता-कथन भी व्यर्थ था; क्या मांस अमांसल भी होता है? इससे प्रतिपक्षीका अर्थ अशुद्ध और पक्ष असिद्ध हो गया। हमने तो वास्तविक अर्थ बता ही दिया है।

८

वसिष्ठ-वचन

पूर्वपक्ष

वसिष्ठस्मृतिमें लिखा है कि- **'श्वाविच्छल्येंगोधा भक्ष्याः, नक्रकुलीरा अविकृतरूपाः सर्पशीर्षाश्च, गौरगवयशरमाद्याश्च अनुदिष्टाः तथा; धेन्वनड्वाहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायते । खड्गे तु विवदन्ति अग्रामसूकरे च'**

अर्थ- 'श्वावित् (साही) आदि अभक्ष्य नहीं। वाजसनेयकके मतमें गाय-बैल मेध्य अर्थात् भक्ष्य हैं, तब प्राचीन भारतमें गोवध सिद्ध हो गया ।' (एक महाशय)

उत्तरपक्ष

प्रतिपक्षीने वसिष्ठस्मृतिके (**१४।३०-३५**) स्थलके वचन दिये हैं । यहाँ पर **'सर्पशीर्षाश्च'**(३२) यहाँ 'च' पूर्वके- **'श्वावित्-शल्यक-शशक-कच्छप-गोधाः पञ्चनखानां भक्ष्याः'** (१४।३०) इस सूत्रके 'भक्ष्याः' इस शब्दसे सम्बद्ध 'सन्ति' क्रियाका अध्याहार हो जाता है । अब इसका अन्वय हुआ, **'पञ्च-नखानां मध्ये श्वाविधादयो भक्ष्याः'** (३०) इसी **'भक्ष्याः'**की (३१) सूत्रमें भी अनुवृत्ति है, **३२**वेंमें (**सर्पशीर्षाश्च**) भी 'च' से अपकर्षण है, यह स्पष्ट है । इस अध्यायके आदिमें लिखा है कि- **'अथातो भोज्याभोज्यं च वर्णयिष्यामः'**(१४।१)

अर्थात्- इस अध्यायमें भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थोंका वर्णन करेंगे । परन्तु विपक्षीने इन प्रमाणोंमें सभी भक्ष्य बतला दिये, अभक्ष्य कोई भी नहीं बताये । **'पञ्चनखानां भक्ष्याः'**के स्थानपर **'पञ्चनखा नाभक्ष्याः'** यह पाठ लिख दिया । यद्यपि इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं ।

आगे- **'गौरगवयशलभाश्च अनुदिष्टास्तथा'** यह जो वाक्य वादीने लिखा है; यहाँके 'तथा'का अग्रिम सूत्रके **'धेन्वनड्वाहौ'** पदसे सम्बन्ध है; परन्तु वादीने

'तथा' इस आगेके सम्बद्ध पदको इस सूत्रके साथ कर दिया। **'अनुद्दिष्टाः'**को **'अनुदिष्टाः'** रूपसे लिखा, जिससे अर्थ ही उलट गया। यह हम पहले बता चुके हैं कि **'सर्पशीर्षाश्च'** (१४।३२) इस 'च'का 'भक्ष्याः' इस अपनेसे पूर्वके शब्दसे सम्बन्ध है और 'सन्ति' क्रियाका अध्याहार है, तब ये तो ग्रन्थकारके मतमें परिसंख्याविधिसे अभक्ष्य हैं। परन्तु आगेके सूत्रमें **'अनुद्दिष्टाः'** यह नयी क्रिया है; उससे पूर्वके शब्द 'भक्ष्याः'का तो अनुकर्षण चल ही रहा है; पर 'अनुद्‌दिष्टाः' यह नयी क्रियाके आ जानेसे 'सन्ति' क्रियाका अध्याहार न रहा। अब योजना हुई कि

'गौरगवयशरभाश्च भक्ष्याः 'अनुद्‌दिष्टाः'(३४)

अर्थात्– गौरगवय आदि भक्ष्य नहीं कहे गये हैं, अतः अभक्ष्य हैं। इससे सिद्ध हुआ कि यहाँसे अभक्ष्य जीवोंका वर्णन प्रारम्भ हुआ। अथवा 'तथा' शब्द इस वाक्यकी 'अनुद्‌दिष्टाः' क्रियासे भी सम्बद्ध माना जाय; तब भी 'तथा'का अर्थ होगा 'भक्ष्याः', 'अनुद्‌दिष्टाः'का अर्थ होगा– 'न मताः' अब योजना हुई कि–

'गौरगवयाद्याः तथा 'भक्ष्याः अनुद्‌दिष्टाः न मताः' ।

अर्थ यही हुआ कि ये अभक्ष्य हैं। इस प्रकार 'अनुद्दिष्टाः' क्रियासे स्पष्ट हो गया कि गौरगवयादि भक्ष्योंमें नहीं, और अब अभक्ष्योंका प्रकरण प्रारम्भ हुआ। टीकाकारोंने भी इस प्रकार लिखा है। एवंप्रकारेण गौरगवय आदि अभक्ष्य सिद्ध हुए, पर प्रतिपक्षीने इस बातको छिपा दिया है, अर्थ ही नहीं लिखा। तब इस अभक्ष्योंके प्रतिपादक सूत्रसे आगेके–

'तथा धेन्वनडुहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायेते'(१४।३४)

इस सूत्रके 'तथा' शब्दसे अथवा अभक्ष्योंके प्रकरणमें स्थित होनेसे 'धेन्वनडुह (गाय–बैल)की अभक्ष्यता स्पष्ट अनुवृत्त हुई है। इसमें हेतु दिया गया है कि **'तौ मेध्यौ'** अर्थात् मेधाके अनुकूल हैं, क्योंकि गाय मेधावर्द्धक दूध देती है और बैल उस दुग्धका कारण होता है। यदि बैल गायमें गर्भ न धारण करे, तो गायका दूध ही कैसे हो? तब दोनों ही मेध्य तथा अभक्ष्य सिद्ध हो गये।

बोधायनधर्मसूत्र में-

'वधे धेन्वनडुहोरन्ते चान्द्रायणं चरेत्'(१।१९।६)

यहाँ गाय-बैलके वधका प्रायश्चित्त कहा गया है । यदि ऐसा है; तो वे भक्ष्य कैसे हो सकते हैं? बिना वधके उनका भक्षण कैसे हो सके? वहीं **'अभक्ष्याः पशवो ग्राम्याः'** (१।११।१) यहाँ भी गाय-अश्व आदि ग्राम्य पशुओंको अभक्ष्य सूचित किया है । धर्मसूत्रोंमें विरोध नहीं हो सकता, इसलिये गाय-बैल अभक्ष्य ही हैं । मेध्यका अर्थ पवित्र भी है- मेधनार्ह । **'मेधृ संगमे च'** (भ्वा०उ०से०) यहाँ हिंसार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अपवित्रता हो जाती है । मेधका अर्थ यदि सर्वथा हिंसा माना जाय, तो **'गृहमेधिनः'**का अर्थ भी **'गृहहिंसक'** हो जायगा; 'गृहस्थ' नहीं । 'सर्वमेध' यज्ञमें 'सर्वदान' न होकर 'सर्वहिंसा' अर्थ हो जाय; पर यह अर्थ किसीको भी इष्ट नहीं हो सकता ।

विरोधियोंने वाजसनेयकके मतमें धेन्वनडुहको पवित्र अर्थात् भक्ष्य माना है । इसमें पवित्रका अर्थ भक्ष्य कैसे हो गया? क्या पवित्रकी भी हिंसा की जाती है; अथवा बिना हिंसाके ही उसे हड़प कर लिया जाता है? वस्तुतः यह अर्थ अशुद्ध किया गया है । इस मतकी पुष्टिमें वादीने वाजसनेयका अनुमोदन किया है । वाजसनेय शतपथका नाम है । तब शतपथब्राह्मणका **'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'** (३।१।२।२१) यह वचन तो प्रतिपक्षीके अनुसार भी सिद्धान्तपक्ष कहता है कि धेन्वनडुहका अशन न करना । इसीको अनुसृत करके कात्यायनश्रौतसूत्रमें भी कहा है- **'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'** (७।२।२२) इसमें कर्कभाष्य इस प्रकार है **(धेन्वनडुन्मांसं नाशितव्यं 'स धेन्वै अनडुहश्च नाश्नीयात्' इति वचनात्)** तब प्रतिपक्षीकी इससे क्या इष्टसिद्धि हो सकती है ?

आगे तो शतपथब्राह्मण **'तद्ध एतत् सर्वाश्यमेव यो धेन्वनडुहयोरश्नीयात्, गर्भं निरवधीत् पापमकमत्'** (३।१।२।२२) यह कहकर वादीके अनुसार भी धेन्वनडुहके भक्षककी निन्दा करता है । गो-वृषभभक्षकको सर्वभक्षी, गर्भघातक

एवं पापी कहता है । तब उसी शतपथके मतको आदरसे उद्धृत करनेवाला वसिष्ठ-धर्मसूत्र गो-वृषभके हननका अर्थ कैसे कर सकता है? तब 'भक्ष्यौ' यह क्वाचित्क पाठ शतपथके विरुद्ध होनेसे उपादेय नहीं ।

इसीलिये गौतमधर्मसूत्रमें भी **'धेन्वनडुहौ च'** (२।८।३०)

यहाँ पर गो-वृषभको अभक्ष्य माना गया है । श्रीहरदत्तने भी इसकी टीकामें कहा है- **'धेन्वनडुहौ च अभक्ष्यौ'** ।

आपस्तम्बधर्मसूत्रमें भी-

'एकखुरोष्ट्रगवयग्रामसूकरशरभगवाम्' (१।१७।२९)

इस सूत्रमें 'गवाम्' इस अन्तिम पदसे गाय-बैलको अभक्ष्य माना है । **'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यं, मेध्यमानडुहम्- इति वाजसनेयकम् (मतम्)'** (१।१७।३०-३१)' यह सूत्र आपस्तम्बधर्मसूत्रमें अभी-अभी कहे गये **२९**वें सूत्रके आगे है । इस सूत्रके अर्थमें श्रीहरदत्तको भ्रम पड़ गया जो कि उसने लिखा **'धेन्वनडुहोर्मांसं भक्ष्यं' गोप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसव:'** । जबकि पूर्वसूत्रमें गाय-बैलको क्योंकि गोशब्द लिंगभेदसे दोनोंका वाचक होता है । वह अभक्ष्य माना गया है; तब इस सूत्रमें उसे भक्ष्य कैसे कहा जा सकता है? यदि कहो कि यह सूत्र उसका बाधक है; तो वह निषेध फिर कहाँ चरितार्थ होगा? तब तो पूर्वसूत्रमें उसका कथन ही व्यर्थ हो जायगा । यहाँ उसका 'प्रतिप्रसव' शब्द कहना भी व्यर्थ है, प्रतिप्रसव वहाँ होता है, जहाँ पहले विधि हो, फिर निषेध हो, फिर निषेधको बाधकर विधि हो, तभी प्रतिप्रसव होता है । यहाँ इस प्रकारकी बात नहीं ।

वस्तुत: यहाँ तात्पर्य यह है कि श्रुतिने तो गायके दूध तथा बैलके कृष्ट अन्नका निषेध कर दिया था; पर वाजसनेय (याज्ञवल्क्य)का मत यह है कि गायका दूध तथा वृषभकृष्ट अन्न जो शाला-प्रवेष्टाकेलिये **'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्'** (शत० **३**।१।२।२१) इस श्रुतिसे अभक्ष्य था, देखिये इसमें 'सायणभाष्य'- वह याज्ञवल्क्यके मतानुसार बलकारक होनेसे भक्ष्य बताया गया है, उसका मांस नहीं ।

इसलिये इकतीसवें सूत्रमें आनडुह-बैलसे कृष्ट अन्न तथा बैलके कारणसे 'अनडुही (गाय)में उत्पन्न दूधको वाजसनेयके (याज्ञवल्क्यके) **'अश्नाम्येव'** इस कथनसे मेध्य कहा है । हरदत्तके अनुसार यदि अनडुहका मांस मेध्य है; तो फिर गायका अमेध्य हो जायगा; तब वह भक्ष्य कैसे हो सकेगा? वस्तुतः यह उसका अर्थ भ्रमका दुर्विलसित है । धर्मसूत्रोंमें परस्पर सम्बद्ध ही मत संगत हुआ करता है; परस्पर विरुद्ध होनेपर दोनों ही असंगत हो जायेंगे । **'अंसलं भोजनं वा'** (कात्या.श्रौ. ७।२।२४) सूत्रका अर्थ वही याज्ञवल्क्यानुसार दुग्घादि एवं कृष्ट अन्न आदि पोषक वस्तुओंका भोजन करना है; इसका गाय-बैलके मांसभक्षणसे कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि उसे तो कात्यायनने पहले ही (का.श्रौ.७।२।२२) सूत्रमें ही निषिद्ध कर दिया था । स्थूलत्व, कृशत्वमें धेन्वनडुहका भाव नष्ट नहीं हो जाता कि उसके पहले निषिद्ध कर देनेपर फिर उसके स्थूलत्वमें उसकी विधि हो जाय? फलतः यहाँ याज्ञवल्क्यके धेन्वनडुहके अंसल-पोषक दुग्ध एवं कृष्ट अन्नका अशन इष्ट है, मांसका नहीं । यह हम पहले सायणभाष्यकी साक्षीसे स्पष्ट कर चुके हैं । ये कात्यायनश्रौतसूत्रके सूत्र भी उसी शतपथके कण्डिकाओंकी छायारूप ही हैं । अस्तु ।

अब प्राकरणिक वसिष्ठधर्मसूत्रके सूत्र पर चलना चाहिये ।

पूर्वसूत्रके आगे **'खड्गे तु विवदन्ति'** इस सूत्रसे जिसका अर्थ प्रतिपक्षीने यह किया है कि 'गेंडे और ग्रामसूकरके सम्बन्धमें ऋषिगण विवाद करते हैं; अर्थात् कोई उन्हें भक्ष्य और कोई अभक्ष्य बताते है' इस अर्थसे तो अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है कि इससे पूर्वसूत्रमें स्थित 'धेन्वनडुह (गाय-बैल) तो निर्विवाद ही अभक्ष्य हैं । यदि प्रतिपक्षीके अनुसार गाय-बैल निर्विवाद भक्ष्य इष्ट होते, तो यह उनकी भक्ष्यता निर्विवाद न होती, क्योंकि उनकी अभक्ष्यता या उनकी हिंसाका निषेध प्रचुरमात्रामें मिलता है । जैसे कि-

'न चासां (गवां) मांसमश्नीयात्'

(महा.अनु.७८।१७)

सर्वमान्य वेदमें ही वृषभका नाम **'अघ्न्य'** (अथर्व० **९।४।१७**) और गायका नाम **'अघ्न्या'** (अथर्व० **९।४।१९**) इत्यादि स्थलोंमें प्रसिद्ध है । अन्य धर्मसूत्रोंके एतद्विषयक वचन हम उद्घृत कर ही चुके हैं । तब धेन्वनडुह निर्विवाद भक्ष्य कैसे होते? तब तो श्रीवसिष्ठ 'धेन्वनडुह'को भी भक्ष्याभक्ष्योंमें विवादास्पद होनेसे **'खड्गे तु विवदन्ते'** (१४।३५) इस सूत्रमें ही रखते; पर ऐसा न करके श्रीवसिष्ठने उन्हें इस सूत्रसे पहलेके सूत्रमें रखा है । इससे वसिष्ठके कथनानुसार ही 'धेन्वनडुह' (गाय-बैल)की अभक्ष्यता निर्विवाद सिद्ध हुई । महाभारतके अनुशासनपर्वमें (७४।३-४) गोभक्षककी दुर्दशा बताकर निन्दा की गयी है । इस प्रकार प्रतिपक्षीके इस बड़े प्रमाणका भी समाधान ठीक-ठीक हो गया ।

९

धर्मशास्त्रोंमें गोमांसभक्षणका निषेध

पूर्वपक्ष

प्रश्न– 'मनु आदिने वर्जित मांसोंमें गोमांसका कहीं भी स्पष्ट शब्दोंमें निषेध नहीं किया, तब गोमांस प्राचीनकालका भक्ष्य ही सिद्ध हुआ ।' (सुधारकगण)

उत्तरपक्ष

मनुजीने कहीं नरमांसका भी तो स्पष्ट शब्दोंमें निषेध नहीं किया; तो क्या नरमांस भी प्राचीन कालका भक्ष्य था? मनुजीने तो सभी प्रकारके मांसोंका निषेध किया है । जैसे कि–

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवँश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ (५।४५)

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ (५।४८)

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ (५।४९)

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ (५।५३)

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ (५।५१)

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत् फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ (५।५४)

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥(५।५५)

इतने स्पष्ट शब्दोंमें सभी मांसभक्षणके निषेधको करनेवाले मनु गोमांसकी भक्षणीयता कैसे कह सकते हैं? वे तो मांसमात्रको घृणित समझते हैं । जब वे 'विहित' मांसका खाना भी अभक्ष्य बताते हैं; तो निषिद्ध मांसकी भक्षणीयता वे कैसे बता सकते हैं?

गोहननकेलिये मनुजी क्या प्रायश्चित्त बताते हैं? देखो –

'गोघ्नो मासं यवान् पिबेत् ।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥(११।१०८)
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥(१०९)
दिवानुगच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥(११०)
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वनुसंव्रजेत् ।
आसीनासु तथाऽऽसीनो नियतो वीतमत्सरः' ।।(१११)

यह प्रायश्चित्तार्थ गोसेवा बताकर (जैसे कि राजा दिलीपने कामधेनु गायका अपमानरूप वध किया था) फिर गोदान कहा है–

'वृषभैकादशा गाश्च दद्यात् सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥(११६)

तब मनुजी के मतमें गोवध कभी विहित नहीं हो सकता । जब मुख्य स्मृतिकार श्रीमनु निषेध करते हैं; तब मन्वनुगामी अन्य स्मृतिकार उसे कैसे लिख सकते हैं ?

(१०)

रन्तिदेवकी गोभक्तिपर विचार

पूर्वपक्ष

महाभारतके वनपर्वमें– **'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा । समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ॥'** (२०८।९), **'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ।'** (शान्ति.)

यहाँ रन्तिदेव राजाद्वारा अतिथियोंकेलिये अपनी पाकशालामें दोहजार गौओंके काटनेसे इतनी खालें हुई, जिससे चर्मण्वती नदीका प्राकट्य हो गया, जिसे आज चम्बल नदी कहते हैं– जिसे मेघदूतमें कालिदास महाकविने भी सूचित किया है, इससे सिद्ध होता है कि शतपथादिके प्रमाणमें 'महोक्ष' बैल आदिका पकाना अर्थ है, अन्य अर्थ नहीं । (कोई महाशय)

उत्तरपक्ष

रन्तिदेवकी कथामें उक्त पद्यमें 'गो' शब्द पशुवाचक है, गाय–वाचक नहीं । इसका प्रमाण निरुक्त आदिका पहले हम दे ही चुके हैं; अब पाठक इस कथाकी ही साक्षी देखें– यही रन्तिदेवकी कथा फिर द्रोणपर्वमें भी आयी है । वहाँ यह पद्य मिलता है –

उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम् ।
बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत् सत्रयाजिनम् ॥ (६७।४)

यहाँ पशुशब्द है, इससे स्पष्ट है कि रन्तिदेवकी कथामें भी गोवध नहीं, किन्तु पशुवध सम्भव है; गायके 'अघ्न्या' होनेसे यहाँ उसका नाम कैसे सम्भव हो सकता है? बल्कि– प्रतिपक्षीसे दिये हुए पद्यसे पूर्व भी पशु शब्द आया है–

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज ।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं सदा ॥ (वन०२०८।८)

आक्षिप्त पद्यसे आगेके–

चातुर्मास्ये च पशवो वध्यन्त इति नित्यशः । (१०)

इस पद्यमें भी पशु शब्द है; तब पूर्वोत्तर साहचर्यसे तथा द्रोणपर्वकी साक्षीसे यहाँ गो शब्द सामान्य पशुवाचक सिद्ध हो जानेसे प्रतिपक्षीका पक्ष ही असिद्ध हो गया ।

अथवा 'गाय' अर्थ ही माना जाय; तो वहाँ–

'रन्तिदेवस्य महानसे द्विसहस्रं गावो वध्यन्ते स्म'

यह अर्थ है कि अतिथि सत्कारकेलिये प्रतिदिन दोहजार गौएँ बाँधी जाती थीं । उनका बाँधना उनके दूधके दोहनेकेलिये था । उन अतिथियोंको वह दूध दिया जाता था; तथा दूधसे बनाया हुआ समांस अन्न अर्थात् मांसल (पौष्टिक) अन्न (**समांसं ददतो ह्यन्नम्**) खीर, मावा, रबड़ी, खुर्चन आदिके रूपमें दिया जाता था– यही अर्थ यहाँपर है । शतपथब्राह्मणमें–

'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' (११।७।१।३)

यहाँ मांसको परमान्न (खीर)का नाम माना है–

'परमान्नं तु पायसम्' (अमर० २।७।२४) ।

इसकी साक्षी रन्तिदेवकी द्रोणपर्ववाली कथामें भी मिलती है–

गृहानभ्यागतान् विप्रानतिथीन् परिवेषकाः ।
पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम् ॥ (६७।२)

'वरान्न' यह परमान्नका साथी शब्द है– तब यह खीर, रबड़ी, मलाई, मावा आदिको बतानेवाला है । इसीलिये रन्तिदेवके महानस (पाकशाला)में बहुतसी गौओंके बाँधनेकी आवश्यकता पड़ती थी । यह अर्थ जो मांसका किया गया है, यह यहाँ अयुक्त भी नहीं है, किन्तु युक्त एवं प्रसिद्ध है, बलिष्ठ वस्तुको मांस कहा भी जाता ही है । आयुर्वेदकी पुस्तकोंमें– **'चूतफलेऽपरिपक्वे केसरमांसास्थिमज्जानो**

न पृथग् दृश्यन्ते' (सुश्रुत.शारीर.३अ.) यहाँ मांस गूदेका नाम, अस्थि 'गुठली' (बीज)का नाम और मज्जा रेशेका नाम है । **'स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तचित्'** (सुश्रुत४६।१२) यहाँ मातुलुंगके गूदेको मांस शब्दसे लिखा गया है । **'समांसं मधुरं प्रोक्तम्'** मदनपालनिघण्टुके इस प्रमाणमें बेरके भक्ष्य ऊपरवाले हिस्सेको मांस कहा गया है । **'भल्लातकास्थ्यग्निसमं त्वङ् मांसं स्वादु शीतलम्'** (चरक०सूत्र.२७।१६५) यहाँ भल्लातककी गुठलीको अस्थि, ऊपरके छिलकेको त्वचा तथा गूदेको ही मांस कहा गया है । **'खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलम्'** (चरक. चिकि.२०।२७)में खर्जूरके भक्ष्य ऊपरी भागको मांस कहा गया है । इस प्रकार दूधका पौष्टिक भाग मलाई, रबड़ी आदि भी मांस शब्दवाच्य सिद्ध हुआ । यह भी न समझना चाहिये कि महाभारत जैसी सुगम रचनामें ऐसे कठिन शब्द कैसे आते हैं? इसपर स्वयं महाभारतकी साक्षी है –

'अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ।। १।१।८१।

यहाँ व्यासजीने महाभारत में ८,८०० श्लोक कूट माने हैं जिनका ज्ञान स्वयं श्रीव्यासको तथा श्रीशुकदेवको है, संजयको भी पूरा नहीं बताया गया है । तब यहाँ भी यही कूटता है । महाभारतके एक कूटपद्यका आदर्श पाठकोंके सामने भी रखा जाता है –

'गोकर्णा सुमुखीकृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोऽसुप्रभम् ।
दृष्ट्वा गोगतकं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै
गोकर्णासनमर्दनश्च न ययावप्राप्य मृत्योर्वशम् ।।' (कर्ण.९०।४२)

यहाँ पाठकोंने देखा होगा कि सुगम कहे जाते हुए महाभारतमें यहाँ कितनी क्लिष्टता है । इस पद्यमें गो शब्द ७ बार आया है; और भिन्न–२ अर्थ रखता है ।

इस कूट पद्यमें कहीं भी गो शब्द गाय वाचक नहीं आया है; इसप्रकार रन्तिदेवकी कथामें गो शब्द कूट है । वहाँपर वह पशु अर्थमें या गोदुग्ध अर्थमें है, गायके वध अर्थमें नहीं ।

उपर्युक्त अर्थका कारण यह भी है कि यदि रन्तिदेव अतिथियोंको मांस खिलाता; तो स्वयं भी खाता । क्योंकि यज्ञावशेषका खाना भी आवश्यक हुआ करता है, चाहे वह देवयज्ञका हो, पितृयज्ञका अथवा अतिथियज्ञका अवशेष हो, किन्तु रन्तिदेवका तो महाभारतमें मांस न खानेका वर्णन आया है; जैसे कि–

रैवते रन्तिदेवेन......................।
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र! पुरा मांसं न भक्षितम् ॥
(अनु.पर्व.११५।७२–७७)

तब जबरदस्ती उसपर मांसका अर्थ क्यों थोपा जाय ? अर्थ वही ठीक होता है जो पुस्तकके सब पूर्वापरके प्रकरणोंसे सम्बद्ध हो, संगत हो । इसीलिये द्रोणपर्वमें कहा है–

गृहानभ्यागतान्विप्रानतिथीन्परिवेषकाः ।
पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम् ॥(६७।२)

यहाँ अतिथियोंको अमृतोपम वरान्न, परमान्न, (खोया, रबड़ी आदि) खिलाना कहा है, तो वह गौओंके वधसे प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु बन्धनसे ही । वध माना जाय; तो–

आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः।(शा.२९।१२७)

में (१००० गुणा १०० गुणा २०=) २० लाख गौओंका वध करना पड़ेगा, एक गाय-बैल १०० पुरुषोंका भोजन माना जाय तो २०करोड़ पुरुषोंका खिलाना मानना पड़ेगा फिर क्या इतने पुरुष एकस्थानपर कभी इकट्ठे हो सकते थे? दूध, खोया आदिकेलिये इतने गायोंका बन्धन माना जाय, तो कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि दूध, मावा आदि थोड़ी ही मात्रामें उतरते हैं । द्रोणपर्वमें–

सहस्रशश्च सौवर्णान् वृषभान् गोशतानुगान् ।
अध्यर्धमासमददद् ब्राह्मणेभ्यः शतं समाः ॥ (६७।१०-११)

यहाँ रन्तिदेवका ब्राह्मणोंको गाय–वृषभोंका दान ही कहा है, जो **'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्'** (याज्ञ.आ.५।१०९)के अनुकूल है । षोडशराजकीय इस प्रकरणमें राजाओंके दानका वर्णन करके महत्ता बतायी गयी है, पशुवधसे वह महत्ता किस प्रकार हो सकती है? वनपर्वके व्याधके वक्तृत्वमें उक्त कथनसे 'वध्येते'का अर्थ बन्धन न करके हिंसा ही माना जाय तो वहाँ भी वही भाव है, जो **'अघासु हन्यन्ते गावः'**में है, यहाँ श्रीसायणाचार्यने लिखा है– **'दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्'** यह हम पूर्वमें लिख चुके हैं । अर्थात् वहाँ पीटना अर्थ है, वधका प्रयोग पीटनेके अर्थमें भी आया है । जैसे– **'उर आवधिष्टाः'** (काठ.२८।४) यहाँ उरःका अर्थ छातीपीटना ही है । इसप्रकार अन्य प्रमाण हम अतिथिकी गोघ्नसंज्ञामें दे चुके हैं । गायका पीटना भी एक हिंसा है, जैसे कि व्याधने उसे बताया । पर वह हिंसा अतिथिकेलिये अभ्यनुज्ञात है, इसे हम **'गोघ्नोऽतिथिः'**में स्पष्ट कर चुके हैं । वह पीटना इसलिये होता था कि वह अपने स्थानसे चले और अतिथिके स्थान तक पहुँचे, उसमें दण्डसे ताड़न करना स्वाभाविक है ।

इसी प्रकार **'आलभ्यन्त शतं गावः'** इसका भी मारना अर्थ नहीं । रन्तिदेवकी पाठशालामें प्रतिदिन दोसहस्र गौएँ कटती थीं, यह प्रतिपक्षीके द्वारा कहा हुआ अर्थ दोषपूर्ण है, गौएँ भला पाकशालामें कैसे कट सकती थीं? वधशालामें काटना कहा जाता, तब तो बात कुछ बनती । पाकशालामें तो अन्न पकानेका काम होता है, पशु काटनेका नहीं । वधशालाको कभी पाकशालामें रखा भी नहीं जा सकता, उसे तो नगरसे बाहर रखना होता है । इधर रन्तिदेवके अतिथियज्ञका प्रभाव पशुओंपर भी पड़ता था । बहुतसे पशु स्वयं ही रन्तिदेवके अतिथियोंको दूधद्वारा बने कई खाद्य–पदार्थ खिलानेमें निमित्त बननेसे परलोकमें अपनी स्वर्गकी प्राप्ति मानकर उसके पास उपस्थित हो जाते थे । इसी बातको –

उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंशितव्रतम् ।
बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत् सत्रयाजिनम् ॥
(महा.द्रोण.६७।४, १२।२९।१२२)

इस पद्यसे व्यक्त किया गया है । 'पशु' शब्दसे यहाँ स्त्री-पशु गौ आदि और पुरुष-पशु बैल आदि भी लिये जा सकते हैं, क्योंकि बैल आदि भी गर्भकारक होनेसे दूधके निमित्त बनते हैं । अतः यहाँ साक्षात् मारना अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता । क्योंकि- कौन पशु भला स्वयं मरने जाता? प्रतिपक्षी जरा ठण्ढे दिमागसे सोचें कि- **'ब्राह्मणेभ्यः शतां समाः'** (महा.१०।६७।११) यह कर्म रन्तिदेवने सौ वर्ष निरन्तर किया । तो यदि रन्तिदेव प्रतिदिन कभी दो हजार गौएँ (वन.२०८।८), कभी इक्कीस हजार गौएँ (द्रोण.६७।१६) और कभी बीसलाख गौएँ (शा.२९।१२७) अतिथियोंकेलिये मरवाता था और फिर हजारों गौएँ प्रतिदिन दान भी करता था । तो क्या वह सौ सालों तक वैसा कर सकता था? इतनी गौएँ कहाँसे आतीं? और फिर प्रतिपक्षीके इस अर्थमें विरोध भी आता है, उसके दिये वसिष्ठस्मृति तथा शतपथके वचनसे 'महोक्ष' बड़ा बैल या 'महाज' बड़ा बकरा या 'वेहत्' गर्भघातिनी गौएँ आतिथ्यकेलिये पकवाने चाहिये थे; पर उससे विरुद्ध यहाँ साधारण गौएँ क्यों रखी गयीं? और फिर शतपथके सिद्धान्तसे विरोध भी आता है, क्योंकि शतपथ (३।१।२।२१)में गाय-बैलके अन्न खानेवालेको भी जब सर्वभक्षी, गर्भघातक तथा पापकीर्ति बतलाया है; तो गाय बैलको ही साक्षात् खा जाने या खिलानेवालेको तो महापापी कहकर निन्दित किया जाना चाहिये था, पर यहाँ उसी कर्मसे रन्तिदेवकी पुण्यकीर्ति कैसे फैली, जिसके लिये श्रीकालिदासने भी मेघदूतमें अपनी लेखनी तोड़ दी । इससे स्पष्ट है कि- यहाँ गौओंका वध अर्थात् दण्डेसे ताड़न कर वहाँ अतिथियोंके पास पहुँचाना, जो कि गाय जैसे दिव्य जीवके लिये वधका ताड़न अर्थ या वहाँ बाँधना अर्थ है, जैसेकि **'अघासु हन्यन्ते गावः'** इस मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यने लिखा है- **'दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्'** जिसकी

स्पष्टता हम 'अतिथिकी गोघ्न संज्ञा' इस निबन्धमें कर चुके हैं। वहाँ यह भी हमने बताया है कि पाणिनि **'हन् हिंसागत्योः'** इसमें वधार्थक 'हन्' धातुका गमन अर्थ भी बताता है। **'हन्यन्ते-गम्यन्ते'** हाँकी जाती हैं। निघण्टु (२।१४)में भी गतिकर्मक धातुओंमें हन् पढ़ा गया है, पर वधकर्मक धातुओंमें न तो हन् पढ़ा गया है और न आलभ ही। रन्तिदेवके इस प्रकरणमें इन्हीं धातुओंका प्रयोग किया गया है। इस विषयमें निरुक्तका भी एक प्रमाण देखिये। 'निघण्टु' शब्दका निर्वचन करते हुए पहले **'निगमा इमे भवन्ति'** (१।१।३) यह गम् धातुसे निर्वचन किया गया, फिर **'आहननादेव स्युः'** (१।१।६) यहाँ गम् धातुके स्थानपर हन् धातुका प्रयोग समानार्थकतावश ही किया है। टीकाकारोंने तो यहाँ हन् धातुका पठन् अर्थ किया है। इसकेलिये प्राचीनवृत्तिकार श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है- **हन्तेः पाठार्थे वर्त्तमानस्य अनेकार्थत्वाद् धातूनाम्**

इसका तात्पर्य यह है कि धातुओंकी अनेकार्थकतावश हन् धातुका पठन् अर्थ है। केवल उसने कहा ही नहीं, प्रमाण भी आगे दिया है- **'प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः; एवं हि वक्तारो भवन्ति- ब्राह्मणे इदमाहतम्, सूत्रे इदमाहतम् इति'**।

इससे सिद्ध है कि हन् धातुका केवल हिंसा अर्थ ही नहीं होता; अन्य अर्थ भी औचित्यवश हुआ करते हैं। इस कारण-

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राण्येकविंशतिः॥

(७।६७।१६, १२।२९।१२७)

इस महाभारतीय पद्यमें भी **'गाव आलभ्यन्त'**का 'गौएँ मारी गयीं' यह अर्थ नहीं, जैसाकि प्रतिपक्षी कहते हैं; किन्तु इतनी गौएँ वहाँ प्राप्त करायी गयीं' **(डुलभष् प्राप्तौ)** अथवा दानकेलिये स्पर्श करायी गयीं, क्योंकि दानके संकल्पके समय उस वस्तुका हाथसे स्पर्श करना पड़ता है, अथवा गायके दूध निकालनेके

लिए गायको छुआ जाता है, उसपर हाथ फेरा जाता है; इससे आश्वस्त होकर उसका दूध भी स्निग्ध निकलता है; यही गायके 'आलम्भन' (स्पर्श)का रहस्य है । 'आलभ'के स्पर्श अर्थमें निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

(क) महाभारतके उद्योग पर्वमें-

'ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च'(८३।१०)

यहाँ श्रीकृष्ण भगवान्‌का बैलकी पीठका आलम्भन अर्थात् स्पर्श करना अर्थ ही महाभारतको विवक्षित है, बैलकी पीठको मारना नहीं ।

(ख) **'गामालभ्य विशुद्ध्यति'** (५।८७) इस मनुके पद्यमें भी नरकंकालके छूनेसे अशुद्ध पुरुषकी गायके आलम्भ (स्पर्श)से शुद्धि मानी गयी है ।

(ग) इसी प्रकार **'स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भे'** (मनु० २।१७३) यहाँ भी 'स्त्रियोंका आलम्भन-स्पर्श ही है, मारना नहीं ।

(घ) (यजु. २०।४) मन्त्रके उवट-भाष्यमें **'यजमानमालभते- कोऽसि,** महीधरभाष्यमें भी **'यजमानमालभते, अध्वर्युर्यजमानं स्पृशति'** तथा कात्यायनश्रौतसूत्र (**१९।४।१९**)में भी यजमानका आलम्भन स्पर्शार्थक माना गया है, मारणार्थक नहीं ।

(ङ) गौतमधर्मसूत्र (**१।२।२२**)में श्रीहरदत्तने लिखा है- **'आलम्भनं-स्पर्शनम्'**

(च) **'ब्रह्मणे ब्राह्मणं'** (यजुः. ३०।५)से लेकर **२१** मन्त्र तक **२२** मन्त्र-स्थित 'आलभते' पदका अनुकर्षण है । **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते'** (तै.ब्रा. **३।४।१-१९**)में तो 'आलभते' पद स्पष्ट है, तो वहाँ ब्राह्मणादिका आलम्भन-लाया जाना है, मारा जाना नहीं । वे लाकर यूपमें बाँधकर फिर छोड़ दिये जाते हैं ।

(छ) विवाहसंस्कारमें वधूका हृदयालम्भन- **'अथास्यै हृदयमालभते'** (पारस्कर० **१।८।५**) तथा उपनयनमें माणवकका हृदयालम्भन- **'अथास्य हृदयमालभते'**(२।२।१६)में हृदयदेशका प्राप्त करना अथवा स्पर्श करना ही अर्थ है, मारना नहीं ।

(ज) **'आलभेतासकृद् दीनः करेण च शिरोरुहान्'**

(सुश्रुत.कल्पस्थान१) यहाँ भी बालोंका स्पर्श अर्थ है ।

(झ) मीमांसादर्शन (२।३।१७)में सुबोधिनीकारने लिखा है– **'वत्सस्य समीपे आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवति'** ।

(ञ) **'अक्षान् यद् बभ्रून् आलभे'** (अथर्व० ७।११४।७)

में भी अक्षोंका आलम्भ–स्पर्श ही है, श्रीसायणने भी यही अर्थ किया है ।

(ट) **'कुमारं जातं पुरा अन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनि हिरण्येन प्राशयेत्'** (आश्वलायनगृ० १।१५।१) जातकर्मसंस्कारके इस वाक्यमें शिशुका स्पर्श ही आलम्भका अर्थ है, मारना नहीं ।

(ठ) **'अत ऊर्ध्वम् असमालम्भनमादशरात्रात्'** (गोभिलगृ० २।७।२३) में प्रसूता स्त्रीका दस दिन तक असमालम्भ–अर्थात् छूनेका निषेध किया है ।

(ड) **'केशान् अंगं वासश्च आलभ्य अप उपस्पृशेत्'** (आपस्तम्बधर्म. २।२।३) में भी बालोंके छूनेपर आचमनका विधान किया है । श्रीहरदत्तने लिखा है **'आलभ्य स्पृष्ट्वा'** ।

(ढ) मीमांसादर्शनके शाबरभाष्य (१।२।१०) में– **'अज इति अन्नं, बीजं वीरुद् वा, तम् आलभ्य-उपयुज्य, प्रजाः-पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः'**

यहाँ आलम्भनका उपयोग अर्थ किया गया है ।

(ण) मञ्जूषामें श्रीनागेशभट्टने भी लिखा है– **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्' इत्यत्र आलम्भनं न हिंसनं, किन्तु स्पर्शः । अग्निहोत्रप्रकरणपठिते 'वत्समालभेत्' इति वाक्ये स्पर्शार्थकत्वनिर्णयात्'** ।

फलतः रन्तिदेवके **'आलभ्यन्त शतं गावः'** का भी दानार्थ या सत्कारार्थ स्पर्श ही अर्थ है । तब गौओंको अतिथियोंके पास प्राप्त कराना और यास्कके (निरुक्त २।५।४) अनुसार 'गो'का अर्थ 'गायका दूध' भी होनेसे उनके दूधके मावेसे जिसे मांसल होनेके कारण मांस भी कहना सम्भव हो सकता है, ऐसा गौओंका अतिथियोंकेलिये उपयोग रन्तिदेव जैसा राजा सौ साल तक भी कर सकता

था, इसीसे उसकी कीर्ति फैली। यह अर्थ तो सभी दृष्टियोंसे ठीक है और मारना अर्थ तो किसी भी दृष्टि से उपपन्न नहीं बैठता। वल्लीके पुष्प लेते रहनेसे उसके फूल बढ़ते हैं? गायका दूध लेते रहनेपर वह भी बढ़ता है। कहा है–

गोदुग्धं वाटिकापुष्पं विद्या कूपोदकं धनम्।
दानाद्विवर्धते नित्यमदानाच्च विनश्यति॥

सर्वथा काटदेनेसे भला वृद्धि कैसे हो? वस्तुतः रन्तिदेवका इतिहास **'अतिथिग्वः'** (२०।२१।८) इस अथर्ववेदसंहिताके पदरूप सूत्रका– जिसका अर्थ **'अतिथ्यर्था गावो यस्य सः'** यह सायणाचार्यने किया है– भाष्य ही है, क्योंकि पुराण और इतिहासादिमें वेदके सिद्धान्त भूतार्थवाद द्वारा कहीं कल्पित और कहीं पारम्परिक रूपसे प्रसिद्ध अर्थ कहे जाया करते हैं। इससे स्पष्ट है कि महाभारतके इन कूटश्लोकोंका वही वास्तविक अर्थ है जो हमने किया है। जब प्रतिपक्षीका यह अर्थ करते हैं कि–

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राण्येकविंशतिः॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घरपर जिस रातमें अतिथियोंने निवास किया; उस रात इक्कीस हजार गौएँ मारी गयीं' यह अर्थ कैसे उपपन्न हो सकता है? क्योंकि इसके साथ वाले अठारहवें पद्यमें कहा है–

तत्र स्म सूपाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा॥ (६७।१८)

अर्थात् 'वहाँके रसोइये कहते थे कि आज मांस नहीं है, आप दाल खूब खाइये'। यदि इससे प्रतिपक्षीके अनुसार पूर्वके पद्यमें इक्कीस सहस्र गौओंका मारना कहा है, (बल्कि उस श्लोकमें 'शतं' शब्द साथ है, जिससे इक्कीस सहस्रको सौगुणा करनेपर इक्कीस लाख अर्थ हो जायगा) और इसमें कहा है कि मांस आज नहीं है, दाल ही बहुत खाओ तो यह तो **'यावज्जीवमहं मौनी'** वाला व्याघात हो

जायगा । यदि एक गाय को सौ पुरुषोंका भक्ष्य मान लिया जाय; तो इक्कीस सहस्र गाय इक्कीस लाख अतिथियोंको पूरी हो सकती हैं । एक रातमें रन्तिदेवके घर इक्कीस लाख अतिथि जमा हो जायँ यह सम्भव नहीं हो सकता, कई सौकी संख्यामें तो अतिथि आ सकते है; फिर भी उन्हें कहा जाय कि आज मांस नहीं है, दाल खूब खाओ यह सम्भव नहीं । इसलिये स्पष्ट है कि पूर्व पद्यमें गायका मारना अर्थ नहीं है । 'मांस'का अर्थ यहाँ पर 'मांसल' खोया-रबड़ी अर्थ है; उसकी कमी सम्भव है । क्योंकि एक गायका दूध ही परिमित होना हुआ, फिर उसी दूधको अग्निपर रखकर खोया बनानेपर काफी कमी हो जाती है । खोया खाया भी काफी जा सकता है ।

मनुस्मृतिमें अर्घ्य स्नातकका **'अर्हयेत् प्रथमं गवा'** (३।३) गायसे सत्कार करना कहा गया है । अग्रिम पद्यसे इस अर्थकी संगति भी लग जाती है ।

इसी प्रकारका पद्य शान्तिपर्वमें भी मिलता है-

'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः'(२९।१२७)

द्रोणपर्व तथा शान्तिपर्वके इस उपाख्यानमें सोलह राजाओंकी महिमा बतायी गयी है । अन्य राजाओंमें किसीका भी गोवधकाण्ड नहीं दिखलाया गया; तब उनके सहचारी रन्तिदेवके आख्यानमें भी वह संघटित नहीं हो सकता । जबकि महाभारत **'न चासां मांसमश्नीयात्'** (अनु.७८।१७) गोमांसका भक्षण निषिद्ध करता है तब रन्तिदेवके आख्यानमें उसे पुण्य कैसे कह सकता है । इससे स्पष्ट है कि प्रतिपक्षियोंसे दिये हुए रन्तिदेवके पद्योंका तदभीष्ट अर्थ नहीं । यह महाभारतीय कूट पद्य है; उनका यथाश्रुत अर्थ करना अपनी अनभिज्ञताका परिचय देना है । यदि रन्तिदेवके अतिथियज्ञमें जीवित पशु मारे जाते; तो वहाँ वधिकोंका वर्णन अथवा उनकी संख्या आनी चाहिये थी, पर नहीं आयी, किन्तु रन्तिदेवके पाचकोंकी तो संख्या आयी है कि वे दो लाख थे' (द्रोणपर्व ६७।२) तो वे इतना पायस और रसगुल्ले आदि तैयार करते थे; कि अतिथि लोग उतना न खा सकनेके कारण उन गुलाबजामुन आदिकी

ऊपरी त्वचा उतारकर गिरा देते थे और भीतर का मावा जिसे मांस भी कहा जा सकता है- खा जाते थे । उसी ऊपरी त्वचाको चर्म-सा कहकर उन ढेरोंको गिरा देनेसे कविकी भाषामें उसे 'चर्मण्वती नदी'का प्रकट होना कहा गया है । अब भी कहीं ब्रह्मभोजमें खीर बहुत-सी बनायी जाय और गिरे भी; तो कहा जाता है कि इस भोजनमें तो खीरकी नदी बही । विदेशोंके लिये यही प्रतिपक्षी कहते हैं कि विदेशोंमें आज दूधकी नदियाँ या नहरें बह रही हैं' नहीं तो-

नदी महानसाद् याऽस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः ।
तस्माच्चर्मण्वती पूर्व..................।। (द्रोणपर्व० ६७।५)

चर्मराशिसे चर्मण्वती नदीका प्रवृत्त होना सम्भव-कोटिमें कैसे आ सकता है? क्या चमड़ेकी भी नदी बन सकती है जो आज तक भी बह रही है? यदि नहीं, तो वहाँ यही हमसे कहा हुआ अर्थ ही ठीक है ।

११

गोमेध-अश्वमेध आदि यज्ञ

प्रश्नपक्ष

'वेद जो कि गायको अघ्न्या बताता है, यह कथन यज्ञकर्मसे बाहरकेलिये है या सब स्थानकेलिये? यदि यज्ञसे बाहर गायको अघ्न्या कहा है; तो बिना यज्ञके तो सब पशुओंको अवध्य माना गाया है **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** । यदि गाय यज्ञमें अवध्य है, तो 'गोमेध' भी वैदिकयज्ञ है, उसमें कैसी व्यवस्था मानी जाय? अश्वमेधमें अश्वको मारा जाता था; इस प्रकार नरमेधमें मनुष्य को मारा जाता होगा; वैसे ही गोमेधमें गायको भी । तब कैसे कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतमें गोवध नहीं होता था?'

उत्तरपक्ष

यद्यपि **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** से बिना यज्ञके सब पशु भी अवध्य हैं; तथापि अन्य पशुओंको 'अघ्न्य' इस विशेष नामसे न कहकर एकमात्र गायका नाम 'अघ्न्या' कहना उसकी विशेषता बताता है कि अन्य पशु साधारणतया अवध्य हैं- पर गाय तो मनसा, वाचा तथा कर्मणा भी अवध्य है ।

'गोमेध' अवश्य एक वैदिकयज्ञ है, अश्वमेध भी । पर 'गोमेध'में जीवित गायको मारकर उसका हवन नहीं किया जाता । यदि कहा जाय कि अश्वमेधकी भाँति 'गोमेध' शब्द भी बराबर है, तो अश्वकी भाँति गायकी भी हिंसा होनी चाहिये, यह बात ठीक नहीं । फिर तो 'सर्वमेध' यज्ञमें क्या सब लोगोंकी हिंसा कर दी जायगी? गृहमेधमें क्या घरके बाल-बच्चोंको मार डाला जायगा? कभी नहीं; सो 'गोमेध'में भी गायके मारनेका अर्थ नहीं है । उसका कारण यह है कि **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** इससे प्राणिमात्रके अहिंस्य होनेपर भी **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्'** इस विशेष वचनसे यज्ञमें पशु हुत किया जा सकता था, इस प्रकार

पशुओंमें गायके हवनकी भी प्रसक्ति प्राप्त होनेपर उसे 'अघ्न्या'; यह पूर्वोक्त विशेष वैदिक-शब्द बचा देता था, जैसा कि हम पहले इस विषयमें स्पष्ट कर चुके हैं । महाभारत भी यही बात कहता है -

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥

(शा.मोक्षधर्म.२६३।४७)

फिर यज्ञकी पूर्ति कैसे हो? इसकेलिये व्रीहियों-चावलोंका पशु बनाया जाता है, इस पर भी महाभारतकी साक्षी है-

श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥

(महा.अनु.११५।५६)

इसलिये महाभारतमें प्रेरणाकी गयी है कि-

विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत् ।
यज बीजैः सहस्राक्ष! त्रिवर्षपरमोषितैः ॥

(महा.आश्वमेधिक.९१।१६)

यहाँ धान्यके बीजोंके हवनसे धर्मकी प्राप्ति बतायी गयी है । अतः स्पष्ट है कि यज्ञोंमें व्रीहि, धान, ओदनका पशु बनाया जाता था । इसलिये गोपथब्राह्मणमें भी आया है- **'पशवो वै धानाः'**(२।४।६) । शतपथ.(१।२।३।७०)में भी इस सम्बन्धमें वर्णन आया है । व्रीहिधेनुका वर्णन तो हम दिखला चुके; अनुशासनपर्व (७१।४०,७३।३७)में तिलधेनुका वर्णन आया है, इसप्रकार घृतधेनु (७१।३९), जलधेनु (७१।४१), यवधेनु, मृत्तिकाधेनु, सुवर्णधेनु, आदिका भी वर्णन अथवा उनका दान आता है । शातातपस्मृतिमें 'शर्कराधेनु (२।४६), घृतधेनु (२।४८) रत्नधेनु (२।५८) आदिका वर्णन भी आता है । दधिधेनु (४।९) दुग्धधेनु (४।८),

मधुधेनु (४।१०) गुडधेनु (४।११) रौप्यधेनु (५।२७) का भी । कहीं पिष्टपशु, घृतपशु आदिका वर्णन भी आता है । 'गोयज्ञ' शब्दमें गोधूम शब्द मानकर **'विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः'** इस वार्त्तिकसे धूमका लोप होकर भी गोशब्द बचता है; तो उसी गोधूमके आटेका पशु बनाकर उसका होम किया जाता है, यही पिष्टपशु बन जाता है ।

तब गोमेधमें भी व्रीहिनिर्मित गायका ही होम होता है, जीवित गायको मारकर नहीं होमा जाता था । नहीं तो वह 'अघ्न्या' कैसे कही जाय? यह भी यद्यपि एक हिंसा ही है, पर यज्ञमें यह हिंसा अभ्यनुज्ञात की गयी है । इसकी स्पष्टता अथर्ववेदके दशमकाण्डके नवमसूक्तमें है । वहाँ शतौदना गौका याग बताया गया है । शतौदनाका अर्थ है सौ ओदनों या बहुत (शत शब्द अनेक अर्थवाची भी है) ओदनोंसे बनी गाय । उसीकेलिये वहाँ उसका शान्त करना (मारना) पाक, स्वर्गगमन, अस्थि, लोहित आदि शब्द उपचारसे आये हैं, जैसे कि-

ये त्वा देवि! शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मा एभ्यो भैषीः शतौदने ॥ (अथर्व.१०।९।७)

फलतः गोमेधमें जीवित गायका मारना नहीं, किन्तु वहाँ पिष्ट-पशुका ही होम है । यह प्राचीन भारतमें गोवधका प्रमाण नहीं । इस प्रकार जहाँ हवनीय पशुके अंगोंका ऋत्विजोंकेलिये विभाग कहा गया हो, वहाँ भी व्रीहिनिर्मित उस पशुका विभाग समझना चाहिये, जीवित पशुका नहीं । अथवा यहाँ यह भी जानना चाहिये कि सोमयाग आदिमें यजमानको अपने अंगोंका ऋत्विजोंको देना कहा है । जैसे कि **'ब्रह्मणे मनो दद्यात्, अध्वर्यवे प्राणं, होतृभ्यः श्रोत्रम् ॥'** (आप.श्रौत.१३।६।६) इत्यादि । तब क्या यजमान अपने इन अंगोंको काटकर ऋत्विजोंको देगा? यदि नहीं; किन्तु वहाँ वैसी भावनाकी जाती है, वैसे ही यहाँ भी ऋत्विजोंको उन अंगोंके देनेकी भावनामात्र है । यहाँ प्रतिपक्षी नहीं सोच सकते कि गायकेलिये 'अघ्न्या'की घोषणा करनेवाले वेद उसके अंगोंको कैसे कटवायें? **'अन्नं हि गौः'** (शत.

४।३।४।२५) **'आज्यं मेधः'**, **'गावस्तण्डुलाः'** (अथर्व.११।२।५) इन प्रमाणोंके अनुसार अन्न-चावल आदिका हवन भी 'गोमेध' हो जाता है ।

हाँ, अश्वमेध अवश्य होता था, यह तो बहुत ही प्रसिद्ध है, यह भी किसी चक्रवर्तीके राज्यप्रतिष्ठापनार्थ उसके चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेकेलिये होता था । उसमें भी एक विशेषता ही होती थी । उसमें एक घोड़ा ढूँढा जाता था, जिसका मिलना भी बड़ा कठिन होता था, यह महाभारतमें स्पष्ट है । जैमिनीयाश्वमेधमें भी ऐसे विशेष घोड़ेका वर्णन है, जो राजा युवनाश्वके पास था, जिसकी हजारों रक्षक रक्षा किया करते थे । इसीसे उस अश्वकी विशेषता व्यक्त हो रही है । उसकी परीक्षा की जाती थी (महा.अश्वमेध.७२।५) । इसका भाव यह है कि वह साधारण अश्व न होता था फिर उस घोड़ेका खिलाना-पिलाना इस प्रकारके ढंगसे होता था और उसमें सब कार्य मन्त्रोंद्वारा किये जाते थे कि उसका कायाकल्प होकर उसमें साधारणता हटकर दिव्यता आ जाती थी, उसमें रक्त आदि सब धातुओंका परिवर्त्तन होकर दुर्गन्ध आदि हट जाते थे । वह सफेद अंशमें होकर 'वपा' रूपमें हो जाता था । महाभारतमें लिखा है-

तं वपा धूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ।
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ॥
(महा. आश्व. ८९।४)

इस पद्यमें उसकी वपाके धुएँका सूँघना कहा है । साधारण घोड़ेकी चर्बी या अंग आदि अग्निमें डालनेपर इतनी दुर्गन्ध होती है कि वहाँ बैठा ही नहीं जा सकता, पर उस अश्वमेधके अश्वकी वैधानिक-प्रक्रियासे इस प्रकार कायापलट हो जाती थी, जिससे उसके होममें सुगन्ध हो जाती थी । जैसेकि (ऋ.सं.)के- **'ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति'** (१।१६२।१२) यहाँ उस अश्वमेधके अग्निपरिपक्व अश्वको 'सुरभि' (शोभनगन्धवाला) इसी कायाकल्पके

कारण संकेतित किया गया है । जैमिनीयाश्वमेधमें उस अश्वकी परीक्षाकेलिये धौम्य मुनिने उसका बायाँ कान निचोड़ा, तो उससे दूधकी धार निकली–

ततो धौम्यो हयस्याशु वामं कर्णं न्यपीडयत् ।
ततो दुग्धस्य धारा तु निर्गता जनमेजय! ॥
विस्मिताः सकला लोकाः शोणितं नैव दृश्यते ।(६४।१९-२०)

यहाँ कहा है कि उस घोड़ेमें से दूध तो निकला, रक्त बिलकुल दिखायी नहीं देता था, यह देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था । फिर उसका सिर काटनेपर वह्निमय होकर वह सूर्यमें प्रविष्ट हो गया, उसके गिरे शरीरमें कर्पूरकी गन्ध आने लगी । इस विषयमें वहाँके प्राकरणिक पद्य हम उद्धृत करते हैं– **'ऊर्ध्वं गतं तच्च शिरो न चाधः सूर्यं प्रविष्टं किल वाजिरूपम्'** (६४।२२) यहाँ उस घोड़ेके सिरका नीचे भूमिपर गिरना न होकर सूर्यलोकमें उसका प्रवेश दिखलाया है ।

शुद्धं ज्ञात्वा हृषीकेशस्तुतोदैनमुरःस्थले ।
बैल्वेन कण्टकेनापि भिन्नः कृष्णेन पावनः ।।(२३)

यहाँ उस घोड़ेकी 'शुद्ध' तथा 'पावन' शब्दसे भीतरी कायापलट बतायी जा रही है, उसीके परिणाममें उससे दूधकी धारा निकलना कहा है कि–

निर्गता क्षीरधारा तु तुरगस्य कलेवरात् ।(६४।२४)
एवं विधो न कस्यापि शुद्धं पूर्वं तुरंगमः ।(२५)

यहाँपर उस अश्वकी भीतरी–बाहरी शुद्धि पूर्वोक्त कारणवश बतायी गयी है ।

तेषां संवदतामेवं तुरंगमकलेवरात् ।
निर्गतं सुमहत्तेजः प्रविष्टं केशवानने ।।(२७)

यहाँ भी पूर्वोक्त निमित्तसे घोड़ेसे एक विशेष तेजका निकलना कहा है ।

पश्चाच्छरीरं पतितं भूत्वा कर्पूरमेव तत् ।

विभूतिरिव रुद्रस्य च्युता गात्रादशोभत ॥
धौम्यस्तदेव कर्पूरं स्रुवेणैव जुहाव ह ॥ (६४।२८)

यहाँ उस घोड़ेका विशेष विधानसे कायाकल्पताके कारण गिरनेपर कर्पूर जैसा सुगन्धित और रुद्रकी विभूति जैसा श्वेत होना कहा है । इससे सभी हैरान हो गये और उसी कर्पूरका हवन किया गया । जैसे कि-

विस्मिता मुनयस्ते तु कर्पूरं वीक्ष्य तेऽभवन् ।
कर्पूरं जुहुवुस्ते तु होमकुण्डे तु तत्क्षणात् ॥ (६४।२९)
घनसारं जुहावाग्नौ देवतानां पुरस्तदा । (३७)

जो अन्य पशु इस अवसरपर बाँधे जाते हैं, उनका भी यहाँ मारना नहीं कहा, किन्तु छोड़ देना कहा गया । जैसे कि-

मोचिताः पशवः सर्वे ये च यूपे नियन्त्रिताः । (६४।५४)

प्राचीनकालमें हवनीय सभी पदार्थोंका संस्कार करके उनमें सूक्ष्म शक्तियाँ उत्पन्न की जाती थीं । हवनीय अश्वको खिलानेके योग्य अमुक प्रकारका घास, अमुक प्रकारके क्षेत्रमें, अमुक नक्षत्रमें, अमुक मन्त्रोंसे बोया जाता था; अमुक प्रकारके जलसे सींचा जाता था; उनमें अमुक प्रकारका खाद दिया जाता था । अमुक मुहूर्त्तमें उसे तोड़ा जाता था; अमुक मन्त्रोंसे उसका संस्कार करके अमुक समयमें घोड़ेको खिलाया जाता था, उसकी अमुक प्रकारकी रहन-सहन सब बातें पूरी करनी होती थीं । जिस प्रकार आजके योग्य वैद्य एक वृद्धका भी कायाकल्प कर देते हैं, वैसे यहाँपर भी अनुमान कर लेना चाहिये और उन याज्ञिक ऋषियोंमें शक्ति भी विशेष होती थी । यह महाभारतमें स्पष्ट है ।

जैसे वे लोग इस प्रकारकी योगक्रियाएँ करते थे कि वे अपनी अँतरियोंको भी बाहर निकाल लिया करते थे, उस समय पीया हुआ पानी सीधा गुदद्वारसे निकलकर शरीरको शुद्ध कर दिया करता था । जैसे लोग नाकसे पानी लेकर मुखसे निकाल देते हैं; इससे उस अंगकी शुद्धि हो जानेसे फिर प्रतिश्याय आदि रोग नहीं

हो पाते । इस प्रकार घोड़े आदिमें मानसिक-शक्तिसे विशेषता कर दी जाती है । अतः वहाँ आश्चर्यका कोई अवकाश नहीं ।

इसके अतिरिक्त अश्वमेध-यज्ञ चक्रवर्त्ती राजालोग किया करते थे; उसमें अन्य फलोंके अतिरिक्त अपने साम्राज्यका प्रतिष्ठापन तन्मूलक चक्रवर्त्ती पुत्र उत्पन्न होनेका उद्देश्य भी प्रायः रहता था । जैसाकि वाल्मीकीयरामायणमें-

सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥(१।८।२।)

भी कहा है । यद्यपि यह पुत्रेष्टियज्ञ भिन्न भी होता था, तथापि राजाओंके चक्रवर्त्ती पुत्र उत्पन्न करनेकेलिये अश्वमेधका ही अंग बनता था । जैसा कि रामायणमें कहा है-

तुरगश्च विमुच्यताम् । सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रान् ॥ (१।८।१२)

पुनः अश्वमेधयज्ञ तत्प्रोक्त कर्मोंके व्याजसे राजाकेलिये वाजीकरणके रहस्यको भी सम्भृत करता है ।

उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन् ।
यः स्त्रीणां जीवभोजनः ॥(यजु.२३।२१)

यहाँ उक्त क्रियामें जहाँ गणपति प्रजापतिरूप अश्वसे प्रार्थना है, वहाँ अश्वरूप पुरुषसे कहना भी सम्भव हो सकता है । प्रतिपक्षी लोग इस मन्त्रके महीधरभाष्य पर खूब हँसी उड़ाया करते हैं, पर कामशास्त्रके विषयमें कोई अश्लीलता नहीं रह जाती । 'अश्व' वाजीकरणके प्रयोग करनेवाले पुरुषका नाम भी होता है । इस कर्मकाण्डमें जो कि अश्वके साथ रानीके सहनिवासका वर्णन आता है, प्रतिपक्षी लोग इसमें भी ज्ञान न होनेसे इस पर हँसी उड़ाया करते हैं, वस्तुतः इसमें वैज्ञानिक रहस्य भी है । रानीके गर्भाशयके शोधनार्थ- जिसमें चक्रवर्त्ती पुत्रका गर्भ रह सके, अश्वमेधके उस विशिष्ट घोड़ेके पृथक्कृत् अंगसे तैयार किये हुए पदार्थको रानी अपने अंगमें डालती है; **'प्रजननं प्रजनने सन्निधाय उपविशन्ति'** ।

यदि यह पाठ कहींपर है; तो वहाँ विलास नहीं, किन्तु यह चिकित्सा है। प्रजननेन्द्रियमें प्रजननेन्द्रियका संयोगमात्र है, विलास नहीं, क्योंकि मृतकके साथ विलास कैसा? इससे स्त्रीका वन्ध्यात्वदोष दूर हो जाता है। इससे उसका सन्तान-बाधक दोष हटकर गर्भाशय सुसंस्कृत हो जाता है। फिर उस अश्वके अंगोंके हवन करनेसे जो मान्त्रिक शक्तिसे अद्भुत शक्तिवाले तथा सुगन्धित हो जाते हैं- वही अभिमन्त्रित अग्निमें हुत, इसीलिये ही सूक्ष्मीभूत अंगोंकी गन्ध राजा-रानीके सूँघनेसे भीतर प्राप्त होकर शुक्र और योनिके दोषोंको दूर कर देती है। यही बातें महाभारतमें-

तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ।
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ॥

(यहाँ पापका भाव गर्भाशयादिगत दोष भी इष्ट हो सकते हैं)

शिष्टान्यंगानि यान्यासन् तस्याश्वस्य नराधिपः ।
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥

(आश्व. ८९।४।५।६)

यही वाल्मीकि-रामायणमें भी कहा है-

'पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक् परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥
हयस्य यानि चांगानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥

(१।१४।३६-३८)

उस समय वही वेदके अश्लील कहे जाने वाले मन्त्रोंके वचन भी इसमें कुछ सहायक हो जाते हैं। फिर वाजीकृत किये हुए पतिरूप अश्वके रेतसे वह गर्भवती

होकर चक्रवर्त्ती पुत्रको उत्पन्न कर सकती है । एतदादिक रहस्य महीधरके अर्थोंमें अश्लीलता कहकर तथा पशुके अंगोंके काटनेसे घृणा करनेसे तथा उससे आँख मूँदनेसे नहीं मिलते । जैसे कि आयुर्वेद या डाक्टरी पढ़नेवालेको, पशुको मारकर तथा चीर-फाड़ कर अंगोंको पृथक्कृत करके आयुर्वेदके रहस्योंका ज्ञान होता है, इस प्रकार स्त्री-पुरुषके गुप्त अंगोंका भी बिना लज्जा अथवा उपहासके ज्ञान करनेसे ही विशेष चिकित्साकी पद्धतियाँ जानी जाती हैं । योनिको शुद्ध करनेवाले, तंग या चौड़ी करनेवाले उपचारोंका भी रतिशास्त्रोंद्वारा ज्ञान करनेसे ही तत्सम्बन्धी रोगोंको दूर करनेका ढंग आता है, उस विषयमें हँसी आदि करते रहनेवाला तत्सम्बन्धी विषयमें कोराका कोरा रह जाता है; वैसे इस वैदिक विषयमें भी उपहास न करके अर्थोंको न बदलकर इस रहस्यका गम्भीर अनुसन्धान करना चाहिये, जिससे वैदिक चिकित्सा पद्धतियाँ भी लुप्त न हो जायँ । अर्थोंके बदलनेसे अश्लीलताको कहाँ तक दबाया जा सकेगा? इससे प्राचीन विज्ञान लुप्त हो जायेंगे । यह कर्मके साथ एक वाजीकरणका वैदिकयोग भी है; अतः यहाँ भी अश्लीलताका विचार छोड़कर ही अन्तस्तलमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है । इसीके साथ यहाँ उस राजाका स्वयं भी सार्वभौमिक चक्रवर्त्तित्व अक्षत होता था । यह बात प्रकरणवश बतला दी गयी है । कलियुगमें अश्वमेधके वैसे साधन नहीं बन सकते, इसलिये-

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

इस प्रसिद्ध पद्यसे अश्वमेधयज्ञका निषेध किया गया है । वाजीकरणमें अश्वकी आवश्यकता होनेसे अश्वमेध यज्ञ भी था; पर गोमेधमें वहाँ कोई ऐसी बात नहीं । इसके अतिरिक्त उसके अघ्न्या होनेसे उसकी पूर्ति व्रीहिनिर्मित गायसे कर दी जाती है । इस प्रकार सायणाचार्य आदिके भाष्यमें वर्णित वृषभ भी व्रीहिनिर्मित समझना चाहिये; हिंसाप्राप्त जीवित पशु नहीं । फिर उस व्रीहिमय गौ-वृषभ आदि पशुओंके यज्ञसे भी कलियुगमें कई हानियाँ जानकर दूरदर्शी मुनियों द्वारा-

महाप्रस्थानगमनं गोमेधं च मखं तथा ।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

इत्यादि वचनोंसे इन्हें कलिवर्जित कर दिया गया है । इसीसे आज भी श्रद्धालु सज्जन खाँड़का बना हुआ गायका खिलौना भी नहीं खाते । नरमेधमें ब्राह्मणादि मनुष्योंको यूपोंमें बाँधा अवश्य जाता है, ब्रह्म आदि देवताओंके आगे उन्हें अर्पण करके छोड़ दिया जाता है । शुनःशेपको भी तो पीछे मुक्त कर दिया था, अतः इसमें मनुष्यकी हिंसाकी कोई बात नहीं । हाँ संग्रामरूप यज्ञमें 'नरमेध' स्पष्ट है ।

१२

शूलगवमें वृषभकी बलि नहीं

पूर्वपक्ष

'गृह्यसूत्रोंमें शूलगवका भी वर्णन आता है, वहाँ साँड़-बैलका आलम्भन (हिंसन) होता है; उसकी रुद्रको बलि दी जाती है। इससे भी पूर्वकालमें गोवध सिद्ध है। पुरुषकी मृत्युके समय अनुस्तरणी गायके वधका विधान भी आता है। (देखो, आश्वलायनगृह्यसूत्र)।'

उत्तरपक्ष

गाय-बैलके वेदानुसार 'अघ्न्या' एवं 'अघ्न्य' होनेसे, उसका मारना तो सम्भव नहीं; अतः वहाँ 'आलम्भन'का अर्थ 'स्पर्श' है, जिसको हमने पूर्वनिबन्धमें स्पष्ट कर दिया है। उसके भिन्न-भिन्न अंगोंके स्पर्शपूर्वक रुद्रके नामपर समर्पण कर देनेमें तात्पर्य यह है कि उसे अपनी खेती आदिके कार्यमें न लगाया जाय। उसे लोकसे अलग कर देना ही मार देना है। उसे अपनेसे अलग करके उसके प्रत्येक अंगका आलम्भ-स्पर्श करते हुए रुद्रके नामसे दे देना- यही उसका यजन होता है। यज् धातुका 'देवपूजा, और देवसे संगतिकरण और देवके नामसे दान अर्थ हुआ करता है। इसलिये-

'यजेः कर्मणः करणसंज्ञा, सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा'

(वार्त्तिक १।४।३२)

इस वार्त्तिकका उदाहरण **'पशुना रुद्रं यजते'** यह अर्थ है, उसका **'पशुं रुद्राय ददाति'** यह अर्थ काशिका, कौमुदी आदिमें किया गया है। इसलिये यहाँ बालमनोरमाटीकामें लिखा गया है कि-

'अत्र यजधातुर्दानार्थकः, इत्यभिप्रेत्य आह-ददातीत्यर्थः'।

इससे यहाँ भी वृषभका रुद्रके नाम पर दान ही अर्थ इष्ट है, मारना नहीं।

उसके अंगोंको जो अग्निमें उपहार दिखाया है, वह यहाँ अग्निसे रुद्र इष्ट है । अथर्ववेदमें- **'तस्मै रुद्राय नमो अस्तु अग्नये'** (७।९२।१) यहाँ रुद्रको ही अग्नि कहा गया है । तब साण्डके एक-एक अंगको रुद्रके नामसे दान या उसकी बलि कही गयी है, क्योंकि रुद्र वृषभध्वज या पशुपति हैं । पुनः शास्त्रोंमें रुद्र ही गोवंशके रक्षक एवं उसके अधिष्ठातृ देवता बताये गये हैं । उस शूलगव वाले साण्डको जंगलमें छोड़ दिया जाता है, गांवमें नहीं लाया जाता । उसका अशन यानी अपने कर्मोंमें उपयोग नहीं लिया जाता । जैसे यजुर्वेदके ३०वें अध्यायमें ब्राह्मण आदिका आलम्भन कहा है, उसके विषयमें इस अध्यायके अन्तमें श्रीमहीधराचार्यने कहा है- **'ब्राह्मणादीनां पर्यग्नि(अग्निपरिक्रमा)करणानन्तरं इदं ब्रह्मणे, इदं क्षत्राय इत्येवं सर्वेषां यथास्वदेवतोद्देशेन त्यागः। ततः सर्वान्ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्य उत्सृजति ।'**

जैसे यहाँपर आलम्भन शब्द होनेपर भी ब्राह्मणादिको छोड़ दिया जाता है, जैसे यूपबद्ध शुनःशेपको छोड़ दिया गया इससे वरुण-यज्ञकी विधि-पूर्तिमें कोई त्रुटि नहीं मानी गयी; वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिये । इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकालमें गोवधात्मक यज्ञ नहीं थे । यदि कहीं थे भी तो वे उचित नहीं कहे जाते थे ।

मुग्धा देवा उत शुना अयजन्त, उत गोभिरंगैः पुरुधाऽयजन्त ॥

(अथर्व० ७।५।५)

यहाँ वेदके मतमें गाय-बैलके यज्ञकर्ताओंको मुग्ध-मूढ़, अविवेकी **'मुह् वैचित्ये'** बताया गया है । यहाँ 'देवाः'से देवयोनिके अधम राक्षस, पिशाच आदि इष्ट हैं-

..............**रक्षो गन्धर्वकिन्नराः ।**
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥ (१।१।११)

यह अमरकोषमें है, तथा निरुक्तकारने भी-

'गन्धर्वाः पितरो, देवा असुराः रक्षांसि' (३।८।१)

इन पञ्चजनोंमें उन्हें गिना है । उक्त मन्त्रमें लङ् लकार **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** (पा.३।४।६) इस सूत्रसे भूतकालमें न मानकर सर्वकालोंमें माना जाता है । तो तीनों ही कालोंमें वैसा करनेवालेको मोहपतित माना गया है । इस मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणने गायकेलिये लिखा है- **'अवध्यानां परमावधिर्गौः'** । तब जिस ग्रन्थमें गायका यज्ञ हो तो उसमें वेदादि-शास्त्रानुसार व्रीहिनिर्मित पशु ही विवक्षित समझना चाहिये, जीवित गाय-बैल नहीं, क्योंकि वे सबसे बड़े अवध्य माने जाते हैं ।

उपवेद- आयुर्वेदके ग्रन्थ चरकसंहितामें लिखा है-

'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया (प्राप्तव्याः) बभूवुः, न आलम्भाय (वधाय) प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नाभाग-इक्ष्वाक्वादीनां च क्रतुषु पशूनामेव अभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः'

यहाँपर यज्ञमें पशुओंका वध दक्षयज्ञके बाद प्रारम्भ होना बताया गया है ।

'अत एतत्प्रत्यवरकाले पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रवर्तितः'

यहाँपर एक दीर्घकालीन यज्ञमें दीक्षित पृषध्रने अन्य पशु न मिलनेसे गौओंका आलम्भन शुरु किया; यह बतलाया गया । इससे सिद्ध हो रहा है कि पहले गोवधयज्ञ नहीं होते थे, हाँ, अन्य पशुओंके यज्ञ होते थे । पर इस नवीन कार्यसे पुरुषोंको बहुत दुःख हुआ **'तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः'** इसका परिणाम भी खराब निकला ।

'उपाकृतानां (हताना) गवां गौरवाद्, असात्म्याद् उपहताग्नीनाम्,
उपहतमनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे' (चिकि.स्थान१९।३)

इससे अतीसार बीमारी उत्पन्न हुई और उससे अग्नियोंका तथा पुरुषोंके मनका भी उपघात कहा है । इससे ऐसे यज्ञोंकी वैयक्तिकता, क्वाचित्कता और रोगोत्पादकता एवं मनकी उपघातकता बतायी गयी है । तो अन्य पशुओंके यज्ञ तो

क्वाचित्क तथा कादाचित्क होते थे; पर गौओंका साक्षात् वध न होकर व्रीहिनिर्मित गौओंका यज्ञ गोमेध होता था। उसे भी कलिवर्ज्य कर दिया गया; तब 'प्राचीन-भारत गोभक्षक था' यह दोषारोपण अनुसन्धानहीनताका फल है।

अनुस्तरणी गायका भी छोड़ देना या दान देना ही उत्तरपक्षके रूप में आता है। जैसे कि बोधायनीयपितृमेधसूत्रमें-

'उत्सृजेद् वा एनां ब्राह्मणाय वा दद्यात्। दत्ता त्वेव श्रेयसे भवति'

(१।१०।२)

यहाँपर अनुस्तरणी गायका छोड़ देना या ब्राह्मणको दान देना ये दो पक्ष कहे गये हैं; इनमें भी उसका दान देना उत्तम पक्ष माना गया है। इससे पूर्वपक्षका स्वयं बाध हो जाता है। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें भी **'अनुस्तरणीम्'** (४।२।४) इस सूत्रपर गार्ग्यनारायणने वृत्ति की है-

'अत्रापि 'एके' ग्रहणं सम्बध्यते तेन अनुस्तरणी अनित्या।

(अर्थात् यह अनुस्तरणी एकदेशी पक्ष है)

कात्यायनेनाप्युक्तम् 'न वा अस्थिसन्देहादिति....तस्मान्न भवतीत्यर्थः'

(अतः 'अनुस्तरणी' अनित्य है, आवश्यक नहीं। बल्कि कई संदेह उपस्थित हो जानेसे नहीं होती) अनेकोंके मतमें वहाँ अनुस्तरणी बकरी बतायी जाती है (४।२।६-७) पर यह सब कलिवर्जित होनेसे अब कर्तव्य नहीं।

१३

ब्रह्मवैवर्त्त आदिका गोमांस या गोयज्ञ

गोविरोधीपूर्वपक्ष

पुराणोंमें तो गौओंके मांसका भक्षण स्पष्ट आता है। देखिये ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-

(क) गवां द्वादशलक्षाणां ददौ नित्यं मुदान्वितः।
सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति॥
षट्कोटिं ब्राह्मणानां च भोजयामास नित्यशः॥

(प्रकृति. ५०।१३-१४)

यह सुयज्ञ नाम वाले राजाकी करतूत है जो ब्राह्मणोंको नित्य बारहलाख गौओंका मांस खिलाया करता था; और देखिये-

(ख) गोमेधं च चतुर्लक्षं विधिवन्महदद्भुतम्।
ब्राह्मणानां त्रिकोटिं च भोजयामास नित्यशः॥
पञ्चलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः॥

(२।५४।४८-४९)

यहाँ स्वायम्भुव मनुका अतिथिब्राह्मणोंको पाँच लाख गौओंका मांस खिलाना कहा है।

(ग) इसी प्रकार -

पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं सान्नमेव च।
एतेषां च नदीराशीन्भुञ्जते ब्राह्मणा मुने!॥

(२।६१।९९)

यह चैत्र राजाका पाँच करोड़ गौओंका मांस ब्राह्मणको खिलाना लिखा है और देखिये–

(घ) भगवती सीता कहती है कि जब मैं वनसे सकुशल लौट आऊँगी; तो ऐ गंगे! तेरे लिये हजार गौओंका यज्ञ करूँगी और सौ मदिराके घड़े तुझ पर चढ़ाऊँगी–

'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ।'

(अयोध्याकाण्ड ५५।२०)

मान लिया वेदमें गोयज्ञ नहीं; पर पुराणोंमें तो स्पष्ट है; अतः आपके पुराण तो अवैदिक ही सिद्ध हुए ।

(ङ) तभी तो ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें रुक्मिणीके विवाहके अवसरपर–

गवां लक्षं छेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम् ।
चतुर्लक्षं शशानां च कूर्माणां च तथा कुरु ।।
दशलक्षं छागलानां भेटानां तच्चतुर्गुणम् ।
पर्वणि ग्रामदेव्यै च बलिं देहि च भक्तितः ।।
एतेषां पक्वमांसं च भोजनार्थं च कारय ।(४।१०५।६४)

यहाँ पर चारलाख गौओं, दोलाख हरिणों, चारलाख खरगोशों और कछुवों, दसलाख बकरों तथा उससे चौगुनी भेड़ोंका मांस बनवाया गया । यह है पुराणोंकी देन । हम इन्हें नहीं मानते; अतः हमें पुराणोंके गन्दे फोड़ेकी शल्यचिकित्सा करनी ही पड़ेगी । वेदमें जो ऐसा आभास होता है, वहाँ पर यौगिक शब्द इष्ट होनेसे फल आदिका अर्थ होता है, पर पुराणोंमें रूढ़ शब्द होनेसे उनमें यौगिकता करके अर्थान्तर नहीं किया जा सकता । (एक पुराणनिन्दक)

शास्त्रीय उत्तरपक्ष

अब तक हम सुधारकोंको उत्तर देते रहे; अब तथाकथित वेदभक्त पुराणनिन्दकोंको भी हम अपने क्रमसे उत्तर देते हैं; जिनसे इन सब आक्षिप्त पद्योंका प्राकरणिक अर्थ पाठकोंको ज्ञात हो जायगा ।

इस पर हमारा मन्तव्य यह है कि पुराण वेदरूप सूत्रका ही भूतार्थवादरूप भाष्य हैं । उनमें वेदके उदाहरण और प्रत्युदाहरण आदि दिये गये हैं । अब हम इस विषयमें पुराणोंके मूल वेदवचनोंको उद्घृत करते हैं । जो अर्थ वेदके उन मन्त्रोंका होगा; वही पुराणके वेदानुसारी वचनोंका भी होगा । यदि वहाँ यौगिक अर्थ किया जायगा; तो वेदानुसारी पुराणोंमें भी यही होगा ।

'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि'

यह सिद्धान्त श्रीयास्कका केवल वेदकेलिये नहीं है, किन्तु सार्वत्रिक है । यही 'अमरकोष'की सुधाटीका करनेवाले श्रीभानुजीदीक्षितने शाकटायनादिके अभिप्रायसे लोकमें भी माना है । वैसे तो श्रीयास्कने सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति मानते हुए भी **'परिव्राजकः, तक्षा, भूमिजः, अश्वः, तृणम्,** आदि पदोंकेद्वारा वेदादिमें भी योगरूढ़िता **'पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्'** (निरुक्त० **१।१४।२**) इस अपने वचनके द्वारा 'नैकेषाम्' पदसे बता दी है । व्युत्पत्ति होनेपर भी सबका नाम न हो, किसी विशेषका नाम हो, तो योगरूढ़ हो जाता है; किसी विशेष नामवाले उस पदका व्युत्पत्त्यर्थ उसमें न मिले; तो वह रूढ़ हो जाता है ।

इसमें वादीने अतिथि-ब्राह्मणोंको मांस खिलाना दिखलाया; अब इसे वेदमें देखिये- **'एते वै प्रियाश्च अप्रियाश्च ऋत्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ।'** (अथर्व० **९।६।२३**)

यहाँ अतिथियोंको स्वर्गलोकका प्रदाता कहा गया है; और अतिथि ऋत्विक्को कहा गया है । ऋत्विक् बननेका अधिकार शास्त्रोंमें ब्राह्मणका आया है, जैसे कि

मीमांसादर्शनमें- **'स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम्'** (१२।४।३८), **'ब्राह्मणानां वा इतरयोरार्त्विज्याभावात्'** (६।६।१८) ।

इसलिये **'यज्ञर्त्विग्भ्यां घ-खञौ'** (५।१।७१) पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें- **'ऋत्विक्कर्म अर्हतीति आर्त्विजीनां ब्राह्मणकुलम्'** यहाँ भी ब्राह्मणको ही ऋत्विक् बननेका अधिकारी सूचित किया गया है । इसकेलिये पहले मैंने कौशिकसंहिताका एक उपाख्यान भी उद्धृत किया है । जब वेदके अंग-उपांगोंमें ऐसा है; तो वेदको भी वही इष्ट हुआ । मनुस्मृतिमें लिखा है-

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ (३।९९)
शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥(१००)

यहाँ अतिथि-सत्कार न करनेपर बड़े भारी तपस्वीके भी तपोमूलक-पुण्यकी क्षीणता कही है । **'इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति, यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति'** (अथर्व० ९।६।३१) यहाँपर अतिथिसे पूर्व खानेवालेके पुण्यफलका नाश कहा है । **'एष वा अतिथिर्यत् श्रोत्रियः, तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्'** (९।६।६७) यहाँ श्रोत्रिय अतिथिसे पहले खाना अवैदिक बतलाया गया है ।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥
(अत्रिस्मृति १३८)

उस वेदके उपांग धर्मशास्त्रके वचनमें विद्वान् एवं संस्कृत जन्मना ब्राह्मणको श्रोत्रिय माना गया है; तब वेदके उक्त मन्त्रमें भी वही ब्राह्मण इष्ट है । **'अशितवत्यतिथावश्नीयात्'** (९।६।३८) यहाँ भी अतिथिके खा चुकनेपर खाना कहा है, पूर्व नहीं । उक्त वेदके दो मन्त्रोंकी (जिनमें कहा गया है कि अतिथिसे

पूर्व न खाये; अतिथिके बाद खाये) इस मन्त्रमें भी अनुवृत्ति आ रही है– **'एतद् वा उ स्वादीयो यद् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा, तदेव (अतिथेः पूर्वं) नाश्नीयात्'** (९।६।३९) यहाँपर अतिथिसे पूर्व गोदुग्ध या मांस(खीर अथवा फलके गूदे)का खाना निषिद्ध किया गया है । इससे सूचित होता है कि अतिथिको खिलाकर फिर उसके अशनका निषेध नहीं । यही मन्त्र उक्त पुराणके आक्षिप्त वचनोंका मूल है । जो अर्थ इसका होगा; वही पुराणवचनका भी हो जायगा । फिर अग्रिम पर्यायमें अतिथिको जहाँ दूध, घृत, मधु एवं उदक उपहारमें देना वेदने कहा है । वहाँ– **'स एव विद्वान् (अतिथये) मांसमुपसिच्य उपहरति'** (९।६।४३) इस मन्त्रमें अतिथिको 'मांस'का उपहार देना भी बतलाया है । **'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु'** (अ० १८।४।२०)

यहाँ मांसवाला चरु बताया है । **'यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते'** (१८।४।४२) यहाँ ओदनके साथ मांसका भी निपरण (दान) पितृश्राद्धमें कहा है ।

यत् ते मज्जा, यदस्थि, यन्मांसं, यच्च लोहितम् ।
आमिक्षां दुहृतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ (१०।९।१८)

'मांसमेकः पिंशति सूत्रया'

(ऋ० १।१६१।१०),

'ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते'

(ऋ० १।१६२।१२),

'यन्नीक्षणं मांस्पचान्या उखायाः' (१३)

इत्यादि मांस-प्रतिपादक मन्त्रोंका जो अर्थ किया जायेगा, वेदानुसारी पुराणोंमें भी वही अर्थ होगा । वेदमें **'अतिथिग्वः'** (अ० २०।२१।८) शब्द आया है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी गौएँ अतिथिकेलिये हैं । अब यह सब पुराणोंमें भी घटा लीजिये । इससे जो अर्थ वेदमें होगा, वही वेदानुसारी पुराणोंमें भी हो जायगा ।

(घ) शेष है सीताका गोयज्ञ- **'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण'** यह वचन गंगादेवताकेलिये कहा गया है। **'इमं मे गंगे यमुने'** (ऋ॰ १०।७५।५) इस मन्त्रमें गंगा आदि नदियोंको भी देवता मानकर उनकी स्तुति की गयी है। **'देवांश्च याभिर्यजते'** (ऋ॰ ८।२८।३) इस 'गावो देवता:' वाले मन्त्रमें कहा गया है कि जिन गौओंसे यजमान देवताओंका यजन करता है। तो जो अर्थ यहाँ होगा, वही श्रीसीताके वचनमें भी होगा; बल्कि वह सीताका वचन इसी वेदमन्त्रकी व्याख्या है। सीताके वचनमें सुरा-घटका भाव मद्यघट नहीं है, किन्तु सोमघट है, श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणके प्रामाणिक भाष्यकारोंने इस पद्यके अनेक अर्थोंको प्रकट किया है, जिनमें कहीं भी सुराघटका अर्थ मद्यघट प्राप्त नहीं होता है।

चरकसंहिताके चिकित्सितस्थानमें कहा है- **'सोमो भूत्वा द्विजातीन् या (सुरा) युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः'** (२४।५) यहाँ द्विजोंकी सुरा सोमरसको कहा गया है। जिसका वेदमें वर्णन है **'सुरया सोमः'**(यजु॰ १९।५)। उसीका गंगाकेलिये दान कहा है और गोदानसे गंगाका यजन-पूजन कहा है। यज् धातुका अर्थ देवपूजन तथा दान भी हुआ करता है।

अब शेष मांस शब्दके विषयमें यह जानना चाहिये कि 'मांस' शब्दसे **'अर्श आदिभ्योऽच्'** (पा.५।२।१२७) इस सूत्रसे अच् प्रत्यय होनेपर भी 'मांस' बनता है, उसका अर्थ है **'मांसम् अस्ति अनेन इति मांसम्'** जिससे शरीरमें मांस बने, उसका नाम भी मांस हुआ करता है, इसीका दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'मांसल' हुआ करता है **'मांसं लातीति'** यह इसकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि जो भी पुरुषके मांसको बढ़ाकर पुष्ट करने वाली वस्तु हो, उसीका नाम मांसल अथवा मांस भी हुआ करता है; इसलिये वह केवल जीवित पशुके मांसका ही नाम नहीं; बल्कि फलोंके सारभाग (गूदे)का नाम भी मांस हुआ करता है। गत निबन्धोंमें हम खजूरका मांस, बेरका मांस, आमका मांस, कुमारिका (कारबूटी)का मांस आयुर्वेदके ग्रन्थोंसे दिखला चुके हैं, अत: जिस फलादिका भी पोषक जो अंश है; वह भी मांस कहलाता है।

गत निबन्धमें हम **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** यह निरुक्तसे उद्धृत मन्त्र देकर बतला चुके है; कि श्रीयास्क गायके दूधका नाम भी 'गौ' कहते है, **'गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः'** । (ऋ०८।२।३) मन्त्रमें श्रीसायणाचार्यने भी **'गोभिः-गवि भवैः क्षीरादिभिः श्रपणद्रव्यैः, श्रीणन्तः मिश्रीकुर्वन्तः'** यह अर्थ लिखा है ।

'वृक्षे-वृक्षे' का श्रीयास्क **'धनुषि'** (२।६।१) अर्थ करते हैं, वृक्षकी लकड़ीसे बने धनुषका नाम वृक्ष इसीलिये ही माना गया है, अतः निरुक्तमें उन्होंने कहा है–

'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (२।५।४)

इसका भाव यह है कि मूल शब्दोंमें तद्धित प्रत्यय करके जो अर्थ निकलता है, वही अर्थ बिना तद्धिती–प्रत्यय किये हुए मूल शब्दसे भी निकलता है । इसी सिद्धान्तसे वृक्षके बने धनुषको भी वृक्ष कहा जाता है, गौकी ताँत की बनी धनुषकी डोरीको भी गौ कहा जाता है, जैसे कि– **'वृक्षे-वृक्षे (धनुषि) नियता (बद्धा) मीमयद् (शब्दं करोति) गौः (गोर्ज्या)'** (ऋ०१०।२७।२२)

इसीलिये ही निरुक्तमें गो शब्द **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋ० ९।४६।४) में गो–दुग्धका, **'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि'** (१०।९४।९) में गोचर्मसे निर्मित पात्रका, **'गोभिः सन्नद्धो असि'** (९।४७।२६) में गो–श्लेष्माका, **'गोभिः सन्नद्धा'** (यजु० २९।४७) में गोस्नावका, **'वृक्षें......नियता गौः** (ऋ० १०।२७।२२) में गोके ताँतकी डोरीका नाम भी 'गौः' कहा गया है ।

इसी प्रकार वेदानुसारी पुराणोंमें भी ।

(ख) 'पञ्चलक्ष-गवां मांसैः', (ग) **'पञ्चकोटि गवां मांसैः'** आदि पद्योंमें पाँच लाख एवं पाँच करोड़ गौओंका दूध ही मांसका तात्पर्य है । हम पहले कह चुके हैं कि फल आदिके सारभाग गूदे आदिका नाम भी 'मांस' होता है, इसमें हम उपवेद–आयुर्वेदके प्रमाण भी दे चुके हैं । एक उसमें वेदका प्रमाण भी दिया जाता है **'मांसं मांसेन रोहतु'** (अ.४।१२।४)

यहाँ एक ओषधिके मांसको हमारा मांस उत्पन्न करने वाला कहा है । तो इससे सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु हो; उसके सारभागका नाम मांस कहा जाता है । केलेके ऊपरका छिलका 'त्वक्' कहा जायेगा और उसका भक्ष्य सारभाग मांसवर्द्धक मांसल होनेसे 'मांस' कहा जायेगा और गुठलीको अस्थि कहा जायेगा । तो यहाँ गौओंके दूधका मांस सारभाग क्या होगा? वह रसगुल्ला, खोया, रबड़ी, मलाई, खीर ही होगा; उसीको घृतसंस्कृत करके खिलानेपर कहा जा सकता है कि–

ब्राह्मणानां त्रिकोटिं स भोजयामास नित्यशः ।
पञ्चलक्ष गवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः ॥

मावा घृतसंस्कृत करके उत्तम बर्फीके रूपमें बन जाता है । इस अर्थका कारण हम पूर्वमें बता चुके हैं कि गाय 'अघ्न्या' होती है, उससे हनन–प्रयुक्त प्राप्त होनेवाला मांस तो असम्भव है; अतः यही अर्थ वहाँ इष्ट है । अन्य अर्थ यह है कि 'गो' शब्दसे गोधूम भी लिया जा सकता है, 'गोधूम'में 'धूम' का **'विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपः'** (वा.५।३।८३) इस वार्त्तिकसे लोप करनेपर गो शब्द बचता है, उसका सारभाग आटा– उसे घृतसंस्कृत करके ब्राह्मणोंको खिलाना भी उपपन्न हो जाता है । **'गावस्तण्डुलाः'** (अथर्व० ११।३।५) तथा **'अन्नं हि गौः'** (शतपथ० ४।३।१।२५) इन प्रमाणोंसे 'गो'का चावल या सिद्धान्न अर्थ भी ठीक है ।

उक्त स्थानोंमें गायका मांस अर्थ कभी बन भी नहीं सकता । जिस गोमाताके कारण वसिष्ठ एवं विश्वामित्रमें परस्पर संघर्ष हुआ, जिसकी रक्षाकेलिये दिलीपने सिंहको अपना शरीर भी अर्पित कर दिया था–

'स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य' (रघुवंश० २।५९)

जिसकी सेवासे उसने अपने वंशप्रवर्त्तक प्रसिद्ध रघु जैसे पुत्रको प्राप्त किया । जिन गौओंकी रक्षाकेलिये भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रसे भी संघर्ष किया था, इन्द्रपूजाकी अपेक्षा गोपूजनको विशेषता दी, घास आदिकेद्वारा गौओंके बढ़ानेवाले 'गोवर्धनपर्वत'की भी पूजा प्रचलित की, जिनको चरानेकेलिये भगवान् श्रीकृष्णने

एक वनसे दूसरे वनमें गोप बनकर भ्रमण किया, काँटे आदिकी परवाह भी नहीं की; अज्ञातवासमें स्थित अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें होकर दुष्ट कौरवोंसे गौओंकी रक्षा की, जो 'गोधन' नामसे प्रसिद्ध है, जिनकी पूजा पुराण-इतिहासमें प्रसिद्ध है, जिनकी पूजा अब तक भी पुराणोंकी कृपासे व्याप्त है, जो पुराणोंके अनुसार सब देवताओंकी आश्रयस्थली है, जिसके वधको सुनकर हिन्दु आक्रोशमें आकर लड़नेकेलिये तत्पर हो जाते हैं, अपने प्राणोंकी परवाह भी नहीं करते; जिसके अज्ञानपूर्वक शेरके धोखेके वधसे भी पृषध्रको शूद्रता प्राप्त हो गयी, जिसके वध हो जानेपर स्मृति-पुराणादिमें कठोर प्रायश्चित्त बताये गये हैं; उसका वध पुराणोंमें कभी सम्भव नहीं हो सकता। यह पुराणोंकी ही कृपा है- जो उन्होंने अब तक गायकी रक्षा की तथा करायी एवं गोपूजाकी परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखी। यदि गोवध पुराणसम्मत होता; तो अब भी हिन्दुओंमे वैसी परम्परा होती। पर ऐसा नहीं होनेसे स्पष्ट है कि- 'पुराणोंमें भी गोवधका विधान है' किन्हीं लोगोंका यह कथन भ्रमपूर्ण तथा प्रवञ्चनापूर्ण है; केवल पुराणोंको बदनाम करनेकेलिये एक बड़ा भारी षड्यन्त्र है। यदि शब्दोंका सीधा अर्थ सर्वत्र माना जाय; तो- '**गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्। कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥**' यहाँ गोमांस खानेवाला तथा मद्यपान करनेवाला ही कुलीन तथा वैसा न करनेवाला कुलघाती माना जायगा; पर इसका यथाश्रुत अर्थ कोई भी नहीं मान सकता ; तब हमें इसकी जब परिभाषा मिलती है कि-

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसञ्जातः सुषम्णाक्षोभसम्भवः।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः सैवेहामरवारुणी॥

(हठयोगप्रदीपिका ३।४८-४९)

तब पता लगता है कि यह एक विशेष शब्द है और योगविद्याका एक क्रियात्मक अंग है । तब भ्रम हट जाया करता है । शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ किया जाय; तो **'प्रस्थं कुमारिकामांसं'** में कोई अनभिज्ञ 'कुमारी कन्याका एक सेर मांस' अर्थ कर लेगा; जबकि यह कुंवार-बूटीके मध्य स्थित सारभागका नाम है । अनभिज्ञ पुरुष **'कण्टकारिद्वयं छित्त्वा मधुना भक्षयेन्निशि'** का दो जूते काटकर रातको मधुके साथ खानेका अर्थ किया करेगा; जबकि यह एक ओषधिका नाम है- जिसे मधुके साथ खाने का विधान है । तब स्पष्ट है कि- शास्त्रोंमें कहीं परोक्ष-शब्दसे भी कहा जाता है; अतः सर्वत्र शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ कर लेना हानिप्रद हो सकता है ।

'इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः'

(गोपथब्रा. १।१।१)

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११।२१।३५)

इस सिद्धान्तके अनुसार देवोपम ऋषिमुनियोंके शास्त्रोंमें परोक्षवाद भी हुआ करता है । जैसे 'उच्छिष्ट' जूठे भोजनको कहते हैं, पर वेदको परमात्माकेलिये **'उच्छिष्ट'** (अ. ११।३।२१) शब्द कहना ही अच्छा लगता है । **'व्रात्य'** अधम-ब्राह्मणको कहते हैं; पर वेद परामात्माको उसी **'व्रात्य'** शब्दसे कहकर उसकी पूजा बताता है (अथर्व० १५।३।१) । 'वशा' वन्ध्या गायका नाम है, पर वेद उत्तम गायका नाम ही 'वशा' तथा उसका दान बताता है । 'अपान' गुदाका नाम है, पर वेदमें 'व्रात्यका अपान' पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणाका नाम (अथर्व० १५।१६।१-७) आया है । वृषणौ- जो लोकमें अण्डकोषवाची है; उससे अश्वियोंको सम्बोधन किया जाता है कि- **'कामानां वर्षितारौ'** (ऋ० १।११८।१)

इसी प्रकार वेदानुसारी पुराणोंमें भी कई अर्थ लोकमें उस अर्थमें अप्रचलित-परोक्ष शब्दोंसे कहे जाते हैं । इसलिये बिना इस बातको जाने सर्वत्र शब्दमात्रका तत्कालमें लोकप्रसिद्ध वाच्यार्थ करने लग जाना, अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना है । ऐसा करना, बिना मन्त्र जाने साँप-बिच्छूके बिलमें हाथ डालना है । अतः पुराणके वचनमें भी वेदकी भाँति कोई भ्रम न करना चाहिये ।

उसी ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें- जिसके पद्योंसे प्रतिपक्षी गोमांस बताते हैं-

कामतो गोवधे राजन्! वर्षं तीर्थे भ्रमेन्नरः ।
यवयावकभोजी च करेण च जलं पिबेत् ॥
तदा धेनुशतं दिव्यं ब्राह्मणेभ्यः सदक्षिणम् ।
दत्वा मुञ्चति पापाच्च भोजयित्वा द्विजं शतम् ॥
प्रायश्चित्ते च क्षीणे च सर्वपापान्न मुञ्चति ।
पापावशेषाद् भवति दुःखी चाण्डाल एव च ॥
(२।५१।२५-२७)

इत्यादि गोवधमें पाप एवं प्रायश्चित्त कहे हैं; तब ऐसा बतानेवाले उसी ब्रह्मवैवर्त्तमें गोमांस उत्तरपक्ष कैसे हो सकता है, क्योंकि गोमांस गोवधके बिना प्राप्त नहीं हो सकता- यह भी तो आक्षेप्ता प्रतिपक्षियोंको ठंडे दिमागसे सोचना चाहिये ।

(क) **'गवां द्वादशलक्षाणां ददौ नित्यं मुदान्वितः'** (५०।१३)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके इस आक्षिप्त पद्यका **'सुपक्वानि च मांसानि'** (१४) इस वादिप्रदत्त-पद्यसे कोई भी सम्बन्ध नहीं; क्योंकि चौदहवें पद्यका 'च' उसे तेरहवें पद्यसे पृथक् कर रहा है, अतः यहाँ गोमांस भी विवक्षित नहीं, किन्तु बारहलाख गौओंका दान कहा है, यह अत्यन्त स्पष्ट है । वहीं-

पूपमन्नं च सूपान्नं सगव्यं मांसवर्जितम् ।
विप्रा भोजनकाले च मनुवंशसमुद्भवम् ॥(१६)

इस पूर्वपद्यके साथके इस पद्यमें ब्राह्मणोंको मांस वर्जित चोष्य, चर्व्य, लेह्य, पेय अन्न देना कहा है; तब पहले मांस कैसे कहा जा सकता है? यह बात समझनेमें क्या प्रतिपक्षियोंका दिमाग सक्षम नहीं? क्या परस्परविरुद्ध वचन भी प्रामाणिक हो सकता है? अत: स्पष्ट है कि वहाँ 'मांस'का तथाकथित अर्थ नहीं; किन्तु 'मांस'का अर्थ 'मांसल पदार्थ' है ।

'अतो माषान्नमेवैतन्मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्' (१५२)

प्रजापतिस्मृतिके इस प्रमाणसे महापौष्टिक माष मांसके अर्थमें माना जाता है, इससे कोई परस्पर-विरुद्धता नहीं रह जाती । गायका दूध भी उसके साथ होनेपर 'मांस' शब्दसे 'माषकी खीर' भी ली जा सकती है ।

(ख) इसी प्रकार **'पञ्चलक्षगवां मांसै:'** का भी यही अर्थ है । 'गो'का अर्थ निरुक्तानुसार 'गोदुग्ध' है, उसका मांस-मांसल पदार्थ खीर-मावा आदि होता है । उसीका अवलम्बन करनेवाले स्वायम्भुव राजाके 'गोपालक, कृष्णका दास्य तथा गोलोकगमन' (५४।५५) ये कर्म आये हैं, वह गोभक्तिमें तो उपपन्न है, गोवधमें नहीं । इससे स्पष्ट है कि आक्षेप्ता लोग पुराणोंका पूर्वापर तो देखते नहीं, केवल लोकदृष्टिमें उन्हें गिरानेके लिये भ्रामक-वचन उपस्थित कर दिया करते हैं । यह केवल पुराणोंसे द्वेष तथा अपने पुराणनिन्दक-सम्प्रदायकी अन्धी भक्तिके ही कारण हैं, अन्य कुछ नहीं । उक्त वचनोंमें कही भी गौका 'वध' नहीं कहा गया ।

(ग) भागका उत्तर दिया जा चुका है ।

(घ) **'पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च'** (ब्रह्मवैवर्त्त० २।६१।९८) इस पौराणिक पद्यको **'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु'** (अथर्व०१८।४।२०) इस वेदमन्त्रकी व्याख्या समझनी चाहिये । तब पूएके साथ 'मांस'से 'खीर'का भाव समझना चाहिये, क्योंकि- पूएके साथ खीर ही खिलायी जाती है । तभी इस पद्यसे पूर्व उस धार्मिक राजा (२।६१।९६) चैत्रकी-

शतनद्यो घृतानां च दध्नो नद्यः शतानि च ।
शतानि नद्यो दुग्धानां मधुनद्यश्च षोडश ॥
मिष्टान्नानां स्वस्तिकानां लक्षराशिश्च नित्यशः ॥
(६१।९६-९७-९८)

यहाँपर गायकी दूध, दही, धृत तथा मिष्टान्नकी नदियाँ बतायी गयी हैं, उनके साहचर्यसे गायके मावे तथा खीरका वर्णन ही संगत है । मांसका वर्णन अपेक्षित होनेपर तो गो-रक्त, गोमज्जा तथा गोमेदकी नदियाँ बतायी जातीं; पर न बतानेसे गोमांसका अर्थ वहाँ सम्भव हो ही नहीं सकता, यह अत्यन्त स्पष्ट है । किसी पद्यका अर्थ पूर्वोत्तर-प्रसंगसे सम्बद्ध हुआ ही संगत होता है । यह हुआ आक्षिप्त-पद्यका पूर्वका प्रकरण; अब उसका उत्तर (आगेका) प्रकरण भी देखना चाहिये । वह यह है-

'गवां लक्षं च रत्नानां मणीनां लक्षमेव च' (६१।९९)
'ददौ द्विजातये राजा नित्यं च जीवनावधि' (१०१)

यहाँपर गौओं, रत्न, सोना तथा वस्त्रादिका प्रतिदिन दान कहा है । फिर गोदानके साथ गोवध नहीं कहा जा सकता, किन्तु गोदुग्धके खीर-मावा आदि ही वहाँ पूर्वापर-प्रकरणसे अनुगृहीत हैं ।

उक्त वचनोंमें कहीं गौका वध भी तो नहीं कहा गया; तब 'पञ्चकोटि-गोमांस' शब्दपर आक्षेप्ताओंको विचारना चाहिये कि- पाँच करोड़ गौओंके मांसको अन्न सहित और पूए सहित खानेकेलिये जितने ब्राह्मणोंकी आवश्यकता हो सकती है; उतने ब्राह्मण तो सारे भारतवर्षमें भी नहीं मिल सकते थे; क्योंकि- एक गायका मांस दो सौ पुरुषोंसे कमका भक्ष्य नहीं हो सकता; तब पाँच करोड़ गौओंका मांस खानेकेलिये एक स्थान पर दस अर्व ब्राह्मण एक राजाके स्थानपर कैसे बैठ सकते थे? हाँ, गोदुग्धका मांस-मांसल खोया आदि माना जाय; तब वहाँ अनुपपन्नता नहीं दीखती, यह प्रतिपक्षीको स्वयं विचारना चाहिये; और फिर वह कार्य नित्यका कहा

है पुनः लक्ष-गोदान भी वहाँ नित्यका कहा है; अतः दान आदिमें तो यहाँ उपपन्नता है, गोमांस अर्थमें नहीं; क्योंकि यहाँ गोवध कहीं भी नहीं कहा; बल्कि गोवधका पुराणमें सख्त निषेध ही किया है। तब बिना गोवधके गोमांस कहाँसे प्राप्त हो? अतः यहाँ मांसका मांसल (खोया) आदि ही अर्थ है, मांस नहीं। निरुक्तकारने (**२।१७।२**)में गायसे गोदुग्धकी वस्तुएँ ही इष्ट मानी हैं, वैसे प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। दुग्धका मांस भी उसका दूसरा-तीसरा परिणाम रबड़ी-रसगुल्ला आदि हैं।

(ङ) ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणस्थित रुक्मिणीके विवाहपर जो प्रतिपक्षियोंद्वारा आक्षेप किया जाता है, वह रुक्मीका प्रस्ताव था, जो कि आसुरी प्रकृतिका था और शिशुपाल आदि दैत्योंके साथ संगति रखा करता था। तो दैत्योंकेलिए तो यह बात सम्मत हो सकती है; पर रुक्मीके पिता श्रीभीष्मक 'पुण्यात्मा, सत्यशील, तथा नारायणांश और धार्मिक थे (४।१०५।१-२)। उनको यह बात पसन्द न थी कि शिशुपाल-दैत्य मेरी कन्या रुक्मिणी का पाणिग्रहण करे। राजा भीष्मकने पुरोहितके बतानेसे (**१०५।२४**) भगवान् श्रीकृष्णसे ही रुक्मिणीका विवाह स्थिर किया था। उसने एकान्तमें मन्त्रीके साथ विचार करके श्रीकृष्णके पास एक ब्राह्मणको रुक्मिणीके साथ विवाहार्थ बारात लानेकेलिए भिजवा दिया था (**१०५।६५**)।

जब श्रीकृष्णकी बारात आ गयी, उस समय श्रीबलरामने रुक्मीको हराकर बाँध दिया। शाल्व, शिशुपाल तथा दन्तवक्त्र आदिको मार-पीट कर भगा दिया (**१०७।१-१६**)। तब रुक्मीका वैवाहिक पशु-हिंसाका प्रभाव खटाईमें पड़ गया, उसमें एक मक्खी भी नहीं मारी गयी। जब दैत्यसेना ही भगा दी गयी, और रुक्मीको जृम्भकास्त्रसे बाँध दिया गया, इससे रुक्मीकी प्रतिपक्षियोंसे उपक्षिप्त बात पूरी न हुई। तब प्रतिपक्षी लोग दैत्योंके साथी बनकर बलात् पुराणोंको बदनाम करके क्यों अपनी दैत्यताका परिचय देते हैं? वहाँ तो-

समागत्य सुरान् विप्रान् भूतांश्च प्रणनाम सः।
ददौ योग्याश्रमं तेभ्यो भक्ष्यपूर्णं सुधोपमम्॥

दिवानिशं चाप्युवाच दीयतां दीयतामिति ।
(१०७।३३-३४)

भीष्मकका अमृतमय **'अमृतं क्षीरभोजनम्'** भोजन देना कहा है, उसमें मांसकी कुछ भी चर्चा अथवा गन्ध भी नहीं । बल्कि वहाँ- **'प्रददौ मुदा । 'दुग्धवती धेनूनां च सवत्सानां सहस्रकम्'** (१०९।४२-४३) गोदान ही कहा है, गोवध नहीं । हमने पुराणोंके आक्षिप्त पद्योंका समाधान कर दिया है, जिसे पाठकगण सावधानीसे देखें ।

वधूकी गोचर्मपर स्थिति

पूर्वपक्ष

(**क**) 'धर्मशास्त्रों और गृह्यसूत्रोंके अध्ययनसे पता चलता है कि प्राचीनकालमें सोमलता गोचर्मपर ही रखकर कूटी जाती थी, यह निरुक्तमें प्रसिद्ध है । (ख) विवाह की समाप्तिमें वधूको **'आनडुहे आर्षभरोहिते चर्मणि वधूमुपवेशयति'** सर्वप्रथम लाल बैलके चमड़े पर बैठाया जाता था । कहीं 'गोचर्मणि' पाठान्तर भी है, वहाँ गायका चमड़ा लिया जायेगा । इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आर्य गोभक्षक थे ।' (एक गोवंशविरोधी)

उत्तरपक्ष

गायके चमड़ेपर सोमलता कूटनेसे आर्योंके गोभक्षणका क्या सम्बन्ध? क्या वहाँ स्वयं मृतपशुका चमड़ा नहीं माना जा सकता, जैसा कि आज भी ब्रह्मचारी आदि मृगचर्म पहनते हैं । आजकल क्या चमड़ोंके जूते हिन्दु लोग नहीं पहनते; तब क्या वे गायको स्वयं मारते या खाते हैं? सोमलता चर्मपर कूटी जाती हो, यह तो सम्भव है; पर गोचर्मका वहाँ तात्पर्य आवश्यक नहीं । निरुक्तकारने यहाँ 'गो' शब्दका अर्थ पशु किया है- धेनु नहीं, यह पहले भी लिखा जा चुका है । श्रीयास्कने वहाँ लिखा है कि पशुओंके अंशोंको भी 'गौः' कहा जाता है; वही यह भी लिखा है- **'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' इति अधिषवणचर्मणः'** (२।५।५) यहाँ 'गो' शब्द अधिषवणचर्म या चर्म अथवा श्लेष्मा, स्नावा, ज्या, इषु, सूर्य, सूर्यरश्मि आदिका वाचक बताया है, केवल गायको इन वस्तुओंका नाम नहीं बताया गया; वहाँ 'गो' शब्द श्रीयास्कने पश्वर्थक ही रखा है, धेन्वर्थक नहीं । आज भी चमड़ेके कुप्पे-कुप्पियाँ होते हैं- जिनमें घी एवं तेल रखा जाता है- यह आवश्यक

नहीं कि वह गायके ही हों; वह ऊँट आदिके चमड़ेके भी होते हैं; पशु वहाँ मृतक होता है । जीवित पशुको मारनेका इससे विधान नहीं हो जाता ।

(ख) अब विवाहान्तमें प्रयुक्त **'अनुगुप्ते आगारे आनडुहे आर्षभे रोहिते चर्मणि वधूमुपवेशयति'** (पार. १।८।७) विवाहपद्धतिमें प्रयुक्त इस वचनपर विचार किया जाता है । यद्यपि इसमें भी पूर्वकी भाँति उत्तर है कि स्वयं मृत गाय-बैलके चर्मपर वधूके बैठानेमें वादीकी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं; तथापि वस्तुतः यहाँ और बात है । यहाँ बैलके चमड़ेका अर्थ हो भी नहीं सकता क्योंकि अनडुह भी बैलका नाम होता है और ऋषभ भी अतः यहाँ दोनोंके कहनेसे पुनरुक्तिदोष होगा । वस्तुतः रहस्य यह है-

अनड्वान् वृषभः प्रोक्तस्त्वनड्वान् मुख्य आलये ।
नारीयुक्प्रज्वलद्दीपमनडुत् कौतुकं गृहम् ॥

इस रन्तिकोषके प्रमाणानुसार 'अनडुह्' शब्द मुख्यगृहका अथवा विवाहस्थलस्थित कौतुकागारका वाचक है । **'अनो वहति इति अनड्वत्'** यह अनडुह शब्दका निर्वचन है, पति-पत्नीरूप रथको धारण करनेवाले मुख्य निवासगृहका नाम भी उक्तकोषानुसार 'अनडुह्' ठीक है । वाचस्पत्यकोषमें **'अनडुद् आसन्नदेशादौ'** लिखा है, तो यहाँ विवाहमण्डपासन्न देश कौतुकागार ही है, वहीं वधूको बैठाना उपपन्न भी है । 'आर्षभे'का अर्थ है- **'ऋषिभिः श्रेष्ठतया स्वीकृते'**, अर्थात् ऋषिसम्मत या श्रेष्ठ । 'पुरुषर्षभ'में 'ऋषभ'का अर्थ 'श्रेष्ठ' ही होता है । यदि 'ऋषभ'का अर्थ 'बैल' माना जाय; तो **'आनडुहे आर्षभे'** इनमें पुनरुक्ति हो जायगी, जो अनिष्ट है । 'रोहिते चर्मणि' मृगचर्मपर वधूको बैठाये । 'रौहिते' के स्थानपर 'रोहिते' यह वृद्धिरहित पाठ **'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः'** इस परिभाषासे वृद्धिकी अनित्यताके कारण है । यदि 'लोहिते' पाठ हो; तो सूर्यकी प्रथम किरणसे लाल उस आसनपर वधूको बैठाये । एक विवाहपद्धतिकारने अपनी विवाहपद्धतिमें

उक्त शब्दसे **'चर्म-शब्दः शणवाचकः'** इस वाचस्पत्यकोषके अनुसार 'शणकी चटाई' अर्थ लिया है । कहीं यदि 'गोचर्मणि' पाठ हो तो वह भी वहाँ पारिभाषिक होगा । वह परिभाषा याज्ञवल्क्यस्मृतिकी मिताक्षराटीकामें यह है–

दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्-दण्डनिवर्तनम् ।
दश तान्येव गोचर्म......।।

यह उसका लक्षण लिखा है । 'गृह्यासंग्रह'में भी कहा है–

ऋषभैकशतं यत्र गवां तिष्ठति संवृतम् ।
बालवत्सप्रसूतानां गोचर्म इति संविदुः ।।(१।३९)

(जहाँ सौ बैल तथा गौएँ अपने बछड़े समेत बैठ सकें, वह भूभाग 'गोचर्म' कहलाता है) उक्त पुस्तकके चन्द्रकान्तभाष्यमें कहा है–

गवां शतं वृषश्चैको यत्र तिष्ठेदयन्त्रितः ।
एतद् गोचर्ममात्रं तु प्राहुर्वेदविदो जनाः ।।

(जहाँ सौ गौएँ तथा एक बैल खुले बैठ सकें, वह भूभाग गोचर्म है ।) 'पद्मचन्द्रकोष' (१३६ पृष्ठ)में 'गोचर्मन्'का अर्थ– 'पृथिवीका परिमाण सौ गज लम्बा, तीन गजके निकट चौड़ा' यह किया है । बृहस्पतिस्मृतिमें लिखा है–

सवृषं गोसहस्रं तु यत्र तिष्ठत्यतन्द्रितम् ।
बालवत्सप्रसूतानां तद् गोचर्म इति स्मृतम् ।। (९)

इस प्रकार यहाँ 'गोचर्म' उस स्थानविशेषका नाम हुआ, जहाँ सौ बैल-गाय समा सकें । यह अर्थ यहाँ संगत भी है, क्योंकि जहाँ **'चर्मणि वधूमुपवेशयति'** यह लिखा है, वहाँ यह भी लिखा है– **'इह गावो निषीदन्तु इह अश्वाः, इह पूरुषाः'** (पार० १।८।७)

अर्थात्– 'यहाँ गौएँ, घोड़े और पुरुष बैठें। 'गोचर्म'का अर्थ बैल अथवा गायका चमड़ा होनेपर उसपर गौएँ, घोड़े, पुरुष सभी नहीं समा सकते। पूर्वोक्त भूमि माननेपर संगति ठीक बैठ जाती है। फलतः शब्दका यथाश्रुतमात्र अर्थ करना असंगत हो जाया करता है, पूर्वापर सब देखकर ही किया हुआ अर्थ निर्दोष सिद्ध हुआ करता है। **'दोग्ध्री धेनुर्वोढ़ाऽनड्वान्'** (यजु॰ २२।२२) इससे जब वाजसनेयीसंहिताने गायका वैदिक महत्त्व सारे संसारमें स्थापित कर दिया, जबकि मनुस्मृतिके ग्यारहवें अध्यायमें महापातक–उपपातकोंका वर्णन करके उनकी शुद्धि एवं प्रायश्चित्तकेलिये गोदान तथा गोपूजा आदि कहकर गायकी स्मार्तमहत्ता भी स्थापित की है। जबकि विवाहमें दान ली हुई कन्याके भारावतारणार्थ वरकेद्वारा गोदान कराकर गायका सौत्र–महत्त्व भी स्थापित किया जाता है। जहाँपर प्रेतके उद्धारार्थ गोदान कराकर गायका धार्मिक महत्त्व भी स्थापित किया जाता है; जबकि– नन्दनन्दनने गोपाल बनकर गौओंको चराचर गायका ऐतिहासिक महत्त्व भी स्थापित कर दिया है, व्यावहारिक–महत्त्व तो जिसका बहुत ही प्रसिद्ध है, तब विवाह–संस्कारमें गोवध–मूलक चर्म रखा जाय– यह अश्रद्धेय बात है; अतः उसका हमसे सिद्ध किया हुआ अर्थ ही संगत है।

उत्तररामचरितका वत्सतरी-विशसन

पूर्वपक्ष

'उत्तररामचरित नाटकके चतुर्थांकमें सौधातकि तथा दाण्डायनके संवादद्वारा वसिष्ठ ऋषिकेलिये वाल्मीकिके आश्रममें वत्सतरी (बछिया) मारी गयी थी; इससे भी प्राचीनकालमें आर्य गोभक्षक थे- यह सिद्ध हो रहा है।' (एक प्रमादी सुधारक)

उत्तरपक्ष

'यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है- इसमें शास्त्र ही प्रमाण होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है-

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। (१६।२४)

नाटक शास्त्रकोटिमें नहीं आ सकता। तब उसका प्रामाण्य भी क्या हो? इसके अतिरिक्त उत्तररामचरितमें यद्यपि सीता-रामका चरित्र है; तथापि उसमें वाल्मीकि-रामायणसे भिन्न बहुत-सी बातें मनःकल्पित हैं। आत्रेयी आदि बहुत-से पात्र कल्पित माने गये हैं। उनका वेदान्त आदि वाल्मीकिसे पढ़ना सब मनघड़न्त जोड़ा गया है। वाल्मीकिरामायणमें किसीके सत्कारमें वत्सतरीका विशसन नहीं कहा। श्रीवसिष्ठने विश्वामित्रका सत्कार फल-फूलोंसे किया; न कि गायके विशसनसे। जैसे कि रामायणमें-

स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह॥
उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत्॥ (१।५२।२-३)

यदि वसिष्ठ अपना सत्कार वत्सतरीके मांससे कराते; तो कोई कारण नहीं था कि- वे विश्वामित्र ऋषिका वैसा सत्कार न करते। उसी नाटकमें उद्धृत किये हुए- **'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः'** इस कल्पसूत्रके वचनके 'निर्वपन्ति'का अर्थ 'ददति' है, 'घ्नन्ति' नहीं; टीकाकारोंने भी वही अर्थ किया है। जब ऐसा है तो वहाँ वत्सतरीका दान कराना चाहिये था- विशसन (काटना) नहीं; जब वसिष्ठस्मृतिमें पाठ 'महोक्षं', 'महाजं' है; तो यहाँ वत्सतरी कैसे आ गयी? और फिर मांस अनिवार्य होनेपर जनकका मधुपर्क भी 'समांस' होना चाहिये था, पर वहाँ वत्सतरीको नहीं काटा गया।

उत्तररामचरितकारको यह व्यवहार (वत्सतरी-विशसन) इष्ट नहीं; बल्कि- वैसे करानेवालेको व्याघ्र अथवा वृक कहलवाकर उस अर्थका उपहास किया गया है। वसिष्ठको वहाँ वैसा पात्र बताकर वसिष्ठस्मृतिके पहले बताये वचनको कइयोंके मतमें वैसे अर्थवाला सूचित किया गया है, पर वसिष्ठकी वैसी घटना न वाल्मीकि-रामायणमें कहीं संकेतसे भी आयी है, न ही वसिष्ठवचनका यह अर्थ है- यह हम पूर्वमें बता चुके हैं; तब वैसा अर्थ भी निर्मूल है।

वस्तुतः यहाँ और रहस्य है, गायका दूध प्रायः अतिथिके कार्यमें लग जानेसे वह वत्सतरी (बछिया)केलिये नहीं बचा होगा, इसलिये वह बेचारी भूखसे बिलबिलाती होगी। यही **'वत्सतरी मड़मड़ायिता'**से संकेत मिलता है। तब अतिथ्यर्थ वत्सतरी-विशसन यहाँ भी हो जाता है। श्रीजनकने क्षत्रिय होनेसे या वानप्रस्थ होनेसे मुनिकी गायका दूध आदि स्वीकार नहीं किया; इसलिये वहाँ उसके लिये कहा है- **'वत्सतरी विसर्जिता'**। धर्मशास्त्रके अनुसार ब्राह्मणकी कपिला गायके गव्यपदार्थको ग्रहण करनेका अधिकारी केवल ब्राह्मण ही होता है।

१६

मधुपर्कमें मांसका विधान नहीं

पूर्वपक्ष

'प्राचीनकालमें अतिथिसत्कारकेलिए भी मधुपर्कनिर्माणके हेतु गोहत्या आवश्यक कर्तव्य थी । **'न त्वेव अमाँ्सोऽर्घः स्यात्'** (पार.१।४।२८) यहाँ मधुपर्कके समय मांससहित मधुपर्कका ही आदेश किया गया है ।' (एक अज्ञ महाशय)

उत्तरपक्ष

यह भी बात ठीक मालूम नहीं होती । मधुपर्कमें दधि, घृत, मधु या शर्करा ये मीठी वस्तुएँ होती हैं, यहाँ गोमांसका काम भी क्या? यह मधुपर्क वरकी पूजा होती है । जब वह मधुपर्क ही सारा नहीं खाता, तो एक समूची गायही कैसे निगल लेगा? यह तो फिर **'चर्मतन्तौ महिषीं हन्ति'** चमड़ेकी तन्तुकेलिये समूची भैंसको मारने जैसा होगा, सौ–दोसौ आदमियोंका भक्ष्य एक वर कैसे खायेगा? और यह भी सुना जाता है कि– मांसकी वस्तुएँ नमकीन ही बनती हैं, तो मधुपेयके समय नमक अथवा मांसका काम ही क्या? अघ्न्या (अहन्तव्या), अदिति (अखण्डनीया), अही (न हन्यते) होनेसे वहाँ गाय गृहीत हो ही कैसे सकती है? उस समय– **'माता रुद्राणां-दुहिता वसूनां..... मा गामनागामदितिं वधिष्ट, मम चामुष्य च पाप्मानँ् हनोमि'** (१।३।२७)

पारस्करगृह्यसूत्रस्थ यह मन्त्र पढ़ा जाता है, इसमें कहा है कि– 'ऐ चेतनावान् (समझदार) मनुष्य! इस निरपराध अदिति (अखण्डनीया) गायको मत मार, मैं अपने पापको मारता हूँ'; जबकि इसमें ऐसा अर्थ है, तो उस अदिति गायका मारना ही कैसे सम्भव हो सकता है? और फिर वहाँ वध अनिवार्य होता; तो **'यदि**

उत्सिसृक्षेत्' यह उत्सर्गपक्ष (त्यागपक्ष) ही न होता । अतः वहाँ 'आलभेत्'का अर्थ पूर्वरीत्या स्पर्श ही समझना चाहिये । **'समांसोऽर्घः'** का हमारे विचारमें 'मधुपर्क-रूप अर्घ समांस हो' का भाव मधुपर्ककी मांसलतासे है, अर्थात्- उस समयके दधि, मधु, नवनीत अथवा घृत मांसल (पौष्टिक) हों, निःसार न हों । बाजारू दूधके न हों; शहद भी बनावटी चीनी आदिकी न हो । गृहस्थाश्रममें सारसहित (पौष्टिक) दधि, मधु, घृतका सेवन वरको करना चाहिये- यह सूचित हो रहा है; अतः यहाँ प्रतिपक्षिप्रोक्त अर्थ संगत नहीं । इन तीनोंमें बड़ी शक्ति है, आयुर्वेदमें बिना मधुके अनुपानके कोई ओषधि ही नहीं खायी जाती । घृतको तो वेदने- **'आयुर्वै घृतम्'** (तै.सं.२।३।२।२) कहा है । दधि भी बहुत बल और लाभ देनेवाली है- इसलिये 'पञ्चामृत'में इन्हींका उपयोग होता है । तब यदि निःसार होंगे; तो अमांसल होनेसे मांसवर्धक नहीं होंगे । इसलिये इनकी **'समांसो मधुपर्कः'** समांसतापर बल दिया गया है । मांस इसमें अप्रासंगिक है, क्योंकि वह मधुरान्नोंमें प्रयुक्त नहीं होता । तब हमसे प्रदर्शित तात्पर्य ही यहाँ ठीक है । जब ऐसा पौष्टिक भोजन खिला दिया गया तो, दक्षिणा भी तो भोजन के बाद हुआ करती है; तो उस समय **'गौर्गौर्गौः'** कहकर आचार्य एवं वर आदिको 'गौ' दी जाती है, यह एक बड़ी भारी दक्षिणा है, इसी कारण गृह्यसूत्रोंमें स्थान-स्थानपर **'गौर्दक्षिणा'** पद आता है । इसीलिये गौओंको 'गोधन' कहते हैं । फिर तृणच्छेदन करके तृण गायको डाले । इसलिये कहा जाता है- **'उत्सृजत तृणान्यत्तु'** ।

श्रीमद्भागवतके अनुसार भी भगवान् श्रीकृष्णने जब पाद्य, मधुपर्कादिसे अक्रूरजीका स्वागत किया तो वहाँ मांसकी कोई भी चर्चा नहीं है ।

जब अक्रूरजी व्रजधाम पहुँचे तो वहाँ उन्होंने -

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ।। १०।३८।२८

दोनों भाईयोंको गाय दुहनेके स्थानमें विराजमान देखा । परस्परमें एक-दूसरेसे अत्यन्त आह्लादित होकर सभी मिले । इसके बाद भगवान्‌ने अक्रूरजीका पाद्य, मधुपर्कादिसे विधिवत् स्वागत-सत्कार किया-

पृष्ट्वाऽथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।
प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत् ।। १०।३८/३८

निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः ।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः ।। १०/३८/३९

घर ले जाकर भगवान्‌ने उनका कुशल-मंगल पूछकर उन्हें श्रेष्ठ आसनपर बैठाया और विधिपूर्वक उनके पैर पखारकर मधुपर्क प्रदान किया । भगवान्‌ने अक्रूरजीको एक गाय दी और पादसंवाहन कर उनकी थकावट दूरकी तथा बड़ी श्रद्धासे उनको भोजनादि कराया ।

अतः मधुपर्कविधिमें मांसकी कल्पना करना ही अप्रासंगिक है ।

याज्ञिक पश्वालम्भका स्वरूप

अपने आपको विद्वान् माननेवाले दूषित अन्त:करणसे युक्त कतिपय गोविरोधी अशास्त्रीय सुधारकोंके मतको उपस्थित कर कई महाशय शास्त्रत: गोवधकी वैधताका समर्थन करनेमें फूले नहीं समाते हैं । उनकेलिये और उनके अनुयायियोंकेलिये यह दुर्भाग्यका विषय है ।

पहले हम कह चुके हैं कि देवोपम शास्त्रकार परोक्षप्रिय भी थे, तब जैसे- **'गोमांसं भक्षयेन्नित्त्यम्'** आदि योगके श्लोक आपातत: घृणित मालूम होते हैं; पर उनकी **'गोशब्देनोदिता जिह्वा'** आदि परिभाषाएँ जान लेनेसे तब वास्तविकताका पता लगता है । जबकि गायका नाम भी वेदकालसे 'अघ्न्या' और बैलका 'अघ्न्य' नाम चला आ रहा है एवं अन्य किसी भी पशुका नाम अघ्न्य नहीं कहा; तब गोवधकी किसीभी प्रकार प्रसक्ति नहीं हो सकती । तब प्राप्त हुए विरोधके परिहारार्थ वैसे वचनोंके अन्दर घुसकर पूर्वोत्तर-प्रकरण तथा इतस्तत:के सिद्धान्तसूत्रोंका अवलम्बन लेकर ही संगति लगानी पड़ती है । गोविरोधियोंकेद्वारा जिनका नाम लेकर इसमें सहमति बतायी जाती है, उनमें बहुतोंपर पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षाका रंग चढ़ा है । वे उसी भाषाके पश्चिमी चश्मेसे हमारे पौरस्त्य-साहित्यको देखते हैं । चश्मा ही जब अपना न हो; दूसरेका हो; फिर ठीक भी क्या दीखे? पूर्व उनके गौरवरूपी सूर्यके उदयकी दिशा है और पश्चिम अस्तकी- यह वे नहीं जानते । इनमें कई सुधारक सनातनसिद्धान्तकी मुख्यधारासे पृथक् हो चुके हैं; अत: उनका हिन्दुधर्मको सदा कलंकित करनेका तथा अपने मांसभक्षणको हिन्दुशास्त्रसम्मत दिखलानेका दृष्टिकोण रहता है, एतदर्थ ही वे नयी-नयी गंगाएँ तथा शिलाएँ घड़ते-खोदते रहते हैं । सुना जाता है कि- वे पशुओंकी अपनी पेटसे अभिन्नता करते रहते हैं; फिर उनको उनसे भिन्न दीखे भी क्या? अत: इनके वचन मान्य नहीं

हो सकते । इसीलिये इस पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षामें पले हमारे दुर्भाग्यविधाता शासकोंकी बुद्धिमें समझानेपर भी गोरक्षाकी बातें समझमें नहीं आतीं । अपने धर्मके लोग लाख समझायें, उन्हें वह समझ ही नहीं पड़ता; अपने कई अहिन्दु समर्थकोंके रूठनेका डर रहता है, अतः कुछ हमारे लोग भी संस्कृतका एक अक्षर न जानते हुए भी सरलसे सरल कोषग्रन्थोंके सहारे उनके नाकका बाल बनकर अप्रामाणिक व्यक्तिके रूपमें दर्शन दे दिया करते हैं । अतः ये लोग हमारे शास्त्र-वचनोंकी संगति लगानेमें कथमपि समर्थ नहीं हो सकते । आक्षेप करना तो कठिन होता ही नहीं, दूसरेके बने-बनाये महलको तो एक साधारण मजदूर भी गिरा सकता है ।

तब गायके अघ्न्या, अही, अदिति होनेसे गोवधकी प्राप्ति ही नहीं । 'गो' शब्द पशुवाचक भी होता है; तब वैसा वर्णन गाय-बैलके अतिरिक्त पशुपरक ही समझना चाहिये । शेष हैं- अन्य पशुओंके यज्ञ-प्रतिपादक सूत्रग्रन्थ या स्मृतियोंके वचन; वे भी इन लोगोंके इष्ट अपंग-वृद्ध पशुओंके विनाश तथा उदरपोषणार्थ तथा मांसभक्षणके पोषक नहीं । उन प्राचीन-यज्ञोंमें जो सूक्ष्मता थी; उन्हें आजका स्थूलदृष्टिवाला मानव समझ नहीं सकता और न वैसा करनेमें ही सक्षम हो सकता है । यजुर्वेदसंहिता (२३।१८)के महीधरभाष्यमें लिखा है- **'प्राणाय' अभिराहुतिभिरश्वं प्राणवन्तं करोति' तथा च शतपथश्रुतिः** (१३।२।८।२) **'प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति, तथो ह अस्य एतेन जीवितेन पशुना इष्टं भवतीति'**

इससे प्रतीत होता है कि- पूर्वसमयमें मरे हुए पशुको भी जीवित कर दिया जाता था । अथर्ववेदके -

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ।।(३।११।२)

इस मन्त्रमें मृतकको जीवित कर देनेमें शक्ति दिखलायी गयी है । क्या मृतपशुको जीवित कर देनेकी शक्ति कलियुगमें है? इसी शक्तिके न होनेसे ही तो-

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

इन बातोंको कलियुगके लिए वर्ज्य बताया गया है । क्योंकि देवरसे बिना मैथुनके सन्तानोत्पत्ति (जैसे कि व्यासजीने दृष्टिसे अम्बिका आदिमें की थी), तथा संन्यासके नियमोंका पालन इसी प्रकार **'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः'** इस प्रकार प्रशस्त पशु गो-अश्व आदिका आलम्भन भी कलियुग में वर्जित कर दिया गया है । क्योंकि उन नियमोंको कलियुगमें अशक्तिवश पाला नहीं जा सकता ।

सत्य, त्रेता और द्वापरयुगमें प्राण अस्थिगत, चर्मगत एवं रुधिरगत होते थे, उनमें किसी भी जीवकी वपा, मांस आदि निकाल लेनेपर भी अस्थियोंके पृथक्-पृथक् न होने तक वह जीव मरता नहीं था । पर कलियुगमें जहाँ अन्नगत प्राण हैं, उनमें ऐसी शक्ति कहाँ हो सकती है? जिनमें वैसी शक्ति थी, वे ही किन्हीं चक्रवर्त्तीके राज्यके स्थापनार्थ या चक्रवर्त्ती पुत्रोत्पत्ति आदि विशेष कार्योमें वैसे यज्ञ भी कर सकते थे, जैसे कि महाभारतमें लिखा है-

स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च ।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ॥
(१२।२६३।३१)

यस्तथा भावितात्मा स्यात्स गाम् (पशुम्) आलब्धुमर्हति (३२)

ऐसे योगशक्तिसे सम्पन्न मुनि पशुको जीवित कर देते थे; जैसेकि अथर्ववेदके अभी दिये गये मन्त्रसे बताया गया है । पर आज वह शक्ति नहीं । अतः इस प्रकारके यज्ञ कलिवर्जित कर दिये गये हैं । तब उनका इस कलियुगमें उद्धरण भी नहीं हो सकता । वे जो यज्ञ उस समय थे भी, उसमें जिह्वास्वाद अथवा उदरपोषणकी कोई भावना भी नहीं थी । यज्ञावशिष्ट मांस बहुतोंमें बाँट देनेपर प्रत्येकके भागमें

वह रत्तीभर ही रहता होगा, तब वह मांस भक्षणकोटिमें भी नहीं आ सकता। जिस प्रकार अवैध मैथुन व्यभिचारकी कोटिमें आता है, पर विवाहसंस्कारसे हुआ वही मैथुन व्यभिचारकी कोटिमें नहीं आता; जैसे स्त्रीके पास ऋतुगमन करनेवाला भी 'पारिभाषिक-ब्रह्मचारी' माना जाता है, वैसे ही याज्ञिक रत्तीभर-मांसका सेवन करनेवाला भी मांसाशीकी कोटिमें नहीं आता, इसपर महाभारतमें ही आता है-

अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे।
देवतानां पितर्णां च भुंक्ते दत्त्वापि यः सदा॥
यथाविधि यथाश्राद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात्।
अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः॥
भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः।

(वन.२०८।१४-१५)

इसपर श्रीनीलकण्ठने लिखा है- **'यज्ञियमांसभुजोऽपि ऋतुगामिनो ब्रह्मचर्यमिव औपचारिकमांसाशित्वमिति भावः'**।

इसका विशेष तात्पर्य हम पहले बता चुके हैं।कलिमें अपनी जिह्वालोलुपतापर नियन्त्रण नहीं होनेके कारण इस प्रकारके कृत्य भी कर्तव्यकी कोटिमें नहीं आते हैं।

किसीको मार देनेपर पुरुष फाँसीका दण्ड पाता है, पर युद्धमें बहुतोंको मार देनेपर पुरस्कार प्राप्त करता है। इस प्रकार जैसे युद्धकी हिंसाको अहिंसा समझा जाता है, जैसे कि- एक विचारकने उत्पन्न हो जाना भी लिखा है, यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं। **'देवानाम्प्रियः'** यह अलुक्समासका प्रयोग मूर्खवाचक है, उसका भाव है कि यज्ञमें देवताओंके प्रिय पशु होते हैं मनुष्य नहीं, इसलिये पशुकी भाँति मूर्ख-पुरुषको भी लक्षणावश, अथवा अलुक्समासकी शक्तिवश 'देवानाम्प्रिय' कह दिया जाता है; तब यज्ञमें पशु इष्ट होनेसे **'पिता कस्मान्न हन्यते'** इस चार्वाककी उक्तिका निराकरण हो गया।

शेष पशुवध भी कलिवर्ज्य होनेसे अब कर्तव्य नहीं। जैसे- नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखना सात्त्विक और मुक्तिरूप सद्गतिप्रद और उत्तमकोटिका है, पर विवाह करके उस स्त्रीसे मैथुनपूर्वक पुत्रादि उत्पन्न करके स्वर्ग प्राप्त करना राजस एवं मध्यम-कोटि है और असंस्कृत किसीसे मैथुन कर लेना यह व्यभिचार और अधम-कोटि है; वैसे अहिंसायज्ञ करना उत्तम-कोटि है, मन्त्र-संस्कृत याज्ञिक-पश्वालम्भ करना यह राजस एवं मध्यम कोटि है। याज्ञिकता छोड़कर उदरकेलिये किसी पशुको मारना यह तामसिक तथा अधम-कोटि है, यही मांसभक्षण-कोटिमें आता है; अतएव हेय है- यह समझ रखना चाहिये।

उनके स्थान पर पूर्तिकेलिये व्रीहि आदिकी ही आहुति दी जा सकती है; क्योंकि वे पशुओंके प्रतिनिधि होते हैं। कृष्णयजुर्वेदके तैत्तिरीयसंहितामें लिखा है -

'दधि, मधु, घृतम्, आपो, धाना भवन्ति, एतद्वै पशूनां रूपम्' (२।३।२।८), **'पशवो वै धानाः'** (गोपथ. २।४।६) इत्यादि।

यही बात 'शतपथब्राह्मणमें भी सूचित की गयी है-

'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे, तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश, ते अश्वमालभन्त, तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त, तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम, सोऽविं प्रविवेश। ते अविमालभन्त, तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम, सोऽजं प्रविवेश। ते अजमालभन्त; तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम' (१।२।३।६)

'स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इव अन्वीयुः, तौ इमौ व्रीहियवौ। स यावद् वीर्यवद् ह वा, अस्यैते सर्वे पशव आलब्धा स्युः, तावद् वीर्यवद् ह वै अस्य हविरेव भवति' (१।२।३।७)

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यही व्रीहि-यव (चावल-जौ) इन पाँच पशुओंके प्रतिनिधि हैं-

'तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः'
(अथर्व. ११।२।९)

ये पाँच पशु वेद ने सूचित किये हैं । इन पाँच पशुओंके आलम्भसे हटा हुआ मेध पृथिवीमें जाकर व्रीहि-यवमें प्राप्त हुआ । उस व्रीहि-यवका हवन पश्वालम्भ हो जाता है; अतः इस कलियुगमें वह पशुयज्ञ पृथक् कर्तव्य नहीं है । ऐतरेयब्राह्मणमें ऐसा ही वर्णन है । जब यजमान यज्ञमें दीक्षित होता है, तब वह देवताओंको पशुरूपसे अपना ही समर्पण करनेका निश्चय करता है । देवताओंको प्राप्त पशुका हविर्भाव उससे निकलकर गौ में गौका उससे निकलकर गवयमें; फिर अज और उष्ट्रमें तथा पुनः उसका हव्यभाग उससे निकलकर पृथिवीमें प्रविष्ट हुआ दिखलाया गया है । पृथिवीमें प्राप्त होकर वह भाग तण्डुल (चावल) बन जाता है । इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि तण्डुल ही वस्तुतः यागका पशु है; क्योंकि पुरोडाशमें ही पशुके सब अंगोंका आरोप करके उसका पशु-प्रतिनिधित्व सूचित किया जाता है और यह पुरोडाश तण्डुलोंका ही तो होता है । इस प्रकार पुरोडाशमें पशुत्वका आरोप करके तण्डुलोंके पुरोडाशसे हवन करना ही पशु-हवन है और पशु-हवन भी करणीय नहीं रह जाता ।

‘अश्वालम्भं गवालम्भं.....’ पर विचार

पूर्वपक्ष

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

‘अश्वका आलम्भ (हिंसा), गायका आलम्भ, संन्यास, पलपैतृक (पितरोंको मांस देना) और देवरसे पुत्र उत्पन्न कराना– इन पाँच कार्योंको कलियुगमें छोड़ दे, इस वाक्यको आप प्रमाण मानते हैं या नहीं? यदि मानते हैं; तो कलियुगको छोड़कर अन्य युगोंमें आपने गोवध स्वीकार कर लिया । यहाँ ‘आलम्भ’का ‘स्पर्श’ अर्थ भी नहीं घटता । यदि आप युगान्तरोंमें गोवधको नहीं मानते; तब आप वदतोव्याघात दोषसे ग्रस्त हो गये ।’ (राष्ट्रद्रोहीसुधारकगण)

उत्तरपक्ष

हम इसका उत्तर यत्र–तत्र पूर्व–निबन्धोंमें दे चुके हैं, यहाँ पृथक् प्रश्न होनेसे पृथक् भी उत्तर देते हैं । ‘आलम्भ’का साक्षात् अर्थ तो हिंसा नहीं है । यदि होता; तो–

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ (५।८७)

इस मनुपद्यमें भी ‘गाम् आलभ्य’का ‘गायकी हिंसा करके’ यही अर्थ होता । सम्पूर्ण पद्यका यह अर्थ है– पुरुष मनुष्यकी गीली अस्थिको छू ले, तो स्नानसे शुद्ध होता है । यदि सूखीको छू ले, तो आचमन करके अथवा गायका आलम्भ (स्पर्श) करके शुद्ध होता है । किसी भी प्रामाणिक टीकाकारने यहाँ गो–आलम्भका अर्थ ‘गायका मारना’ नहीं लिखा किन्तु गायका स्पर्श ही लिखा है । तब स्पष्ट है कि

आक्षिप्त पद्यमें 'अश्वालम्भ, गवालम्भ' ये शब्द एक कर्मविशेष यानी अश्वमेध और गोमेधकेलिये ही पारिभाषिक हैं; तो उस परिभाषित अश्वालम्भ एवं गवालम्भका इस कलियुगमें निषेध किया है । उसका कारण यह है कि- उक्त विधियाँ कलियुगमें सम्भव नहीं हो सकतीं ।

(१) अश्वमेधके प्रसंगमें हम लिख आये हैं कि- वहाँ घोड़ेकी विशेष-विधियोंसे कायापलट कर दी जाती थी; जिससे घोड़ेकी वपा दुर्गन्धित न होकर कपूरकी गन्धवाली हो जाती थी । उससे चक्रवर्त्ती राजाका चक्रवर्त्ती पुत्र ही उत्पन्न होकर उसका साम्राज्य सुप्रतिष्ठित हो जाता था । पर कलियुगमें वैसी सामर्थ्य न होनेसे वैसे ही यज्ञकी साध्यता न हो सकनेके कारण उसका निषेध करना पड़ा कि- जिससे लाभके बदले हानि न हो जाय ।

(२) 'गवालम्भ'की विशेषता हम पूर्वमें कह चुके हैं कि- 'अघ्न्या' होनेसे वह गाय तो उसमें साक्षात् गृहीत नहीं हो सकती और फिर गोवधसे अतीसार आदि बीमारीका प्रादुर्भाव दीखनेसे हानिप्रद होनेके कारण वह अकर्तव्य भी था । पर वेदकी विधिपूर्त्यर्थ उसकी प्रतिनिधिभूत व्रीहिकी गायका आलम्भ किया जाता था । 'आलम्भ' शब्द दोनों (अश्वालम्भ-गवालम्भ) स्थलोंमें समानता-वश समान अर्थ करनेका आग्रह करना भी ठीक नहीं; तब तो पशु-बलिकी भाँति नारायणबलिमें भी नारायण-भगवान् का वध ही मानना पड़ेगा, पर यह अनिष्ट है । महाभारतने स्पष्ट इसमें व्रीहिमय पशु माना है । पर उससे भी कलियुगमें कई हानियोंकी आशंका थी; तब तो आजकलके समयको गोवधमें खुली छूट प्राप्त हो जाती; उसे बहाना मिल जाता । यह सोचकर दूरदर्शी-मुनियोंने इन कार्योंको कलिवर्ज्यतामें गिन लिया । इसके अतिरिक्त सत्ययुगादिमें जीवके प्राण अस्थि, चर्म, त्वचा आदिमें रहा करते थे । तब उस पशुकी वपा निकालकर तथा उसका होम करके भी उस पशुकी मृत्यु नहीं होती थी, पर **'कलावन्नगतप्राणाः'** अन्नमें प्राणवाले इस कलियुगमें वैसी बात होनी असम्भव थी । अतः इसका भी कलियुगमें निषेध करना पड़ा ।

(३)प्रश्न- संन्यासकी कलिवर्ज्यता पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणाके इस युगसे छूट न सकनेके कारण नियमोंकी कठिनता होनेसे जो कि निषिद्ध किया गया; तो क्या संन्यास भी बुरा है; जो कि-युगान्तरमें विहित भी कलिवर्जित किया गया?

उत्तर- नहीं वह बुरा नहीं था । जिस-जिस कार्यकी, विधिकी अथवा कर्तव्यताकी कलियुगकेलिये असाध्यता या विषमता दीख पड़ी; उसे तदर्थ निषिद्ध कर दिया गया; इससे उस कर्मकी अधर्म्यता नहीं हो जाती । समर्थ होनेपर कलियुगमें भी जबतक वर्णविभाग एवं वेदभगवान् उपस्थित हैं, तबतक ब्राह्मणकेलिये संन्यासग्रहण और अग्निहोत्र कर्तव्य हैं । सर्वाधानप्रकरणमें कलिमें अर्धाधानकेलिये देवलने कहा है-

यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते ।
संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत्कुर्यात्कलौयुगे ॥

(नि.सि.पृ७४३)

कलियुगसे इतर युगोंमें कदाचित् उत्कट वैराग्य होनेपर क्षत्रिय और वैश्यकी भी संन्यासग्रहणमें प्रवृत्ति बतायी गयी है, परन्त कलिमें दोनों वर्णोके संन्यासका शुद्ध प्रतिषेध ही है-

संन्यासप्रतिषेधश्च कलौ क्षत्रविशोर्भवेत् ।

(मलमासतत्त्व)

ब्राह्मण भी वही संन्यासको ग्रहण कर सकते हैं जो ज्ञानबलसे मन, वचन तथा कर्म इन तीनोंका दमन करके ईश्वराराधनपूर्वक राष्ट्रकल्याणका चिन्तन करते हुए भगवत्प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त करें । इस विषयमें बहुत शास्त्रीय चर्चा है, परन्तु एतद्विषयक समस्याएँ प्राय: हमारे पास आती रहती हैं इसलिये किञ्चित् विचारप्रकट कर दिया ।

(४) '**देवराच्च सुतोत्पत्तिः**'से नियोग इष्ट है; तब नियोगकी विधिमें कामराहित्य अनुशिष्ट होनेसे बिना काम अथवा मैथुनके सन्तान उत्पन्न करनी पड़ती थी; तब वह भी कलियुगमें साध्य नहीं होनेसे कलिवर्ज्य कर दिया गया ।

(५) पल-पैतृक पितरोंकेलिये मांस भी कलिवर्जित किया गया है । पहलेके युगोंमें शास्त्रगतविधिकी पूर्तिमात्र कर दी जाती थी; उस समय जिह्वानन्दको अवकाश नहीं दिया जाता था । पर आजकलकी जिह्वास्वादसंलग्न आधुनिकयुगीन प्रजाको थोड़ा आश्रयरूपी वाक्य चाहिये; तब उसे विविध बहाने बनानेका निमित्त मिल जाता । एतदादिक हानियाँ देखकर पलपैतृकको भी कलिवर्ज्य कर दिया गया । उसीके परिणामस्वरूप हिन्दुओंमें थोड़ी संख्या मांससे अब भी बची हुई है; नहीं तो इतनी भी न बच पाती । मांस उनके भक्षियोंकेलिये एक बड़ी अद्भुत वस्तु है । आजका युग विषयानन्दी ही है, विलासी है, दिन-रातमें अनेक-बार स्त्री-गमनमें संलग्न है तदर्थ मांस एक परम ओषधि है । इसी व्यसनके शिकार ही मांसका एक रूप कुक्कुटाण्डको भी चट्ट कर जाते हैं । महाभारतमें लिखा है-

न मांसात् परमं किञ्चिद् रसतो विद्यते भुवि ।
क्षतक्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरतात्मनाम् ॥
अध्वना कर्शितानां च न मांसाद् विद्यते परम् ।
सद्यो वर्धयति प्राणान् पुष्टिमग्र्यां दधाति च ॥
न भक्ष्योऽभ्यधिकः कश्चिन्मांसादस्ति परन्तप ।
(अनु. ११६।८-९)

इसीलिये श्रीयास्कने भी-

मनोऽस्मिन् सीदति (गच्छति, षद्लृ गत्यवसादन.) (४।१।३)

मांस का निर्वचन किया है, इसलिये अथर्ववेदमें भी-

'एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा' (अ.९।८।९)

यहां मांसका भी दूधकी भाँति 'स्वादीय:' यह विशेषण दिया है । शतपथमें भी- **'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्'** (११।७।१।३) उसे एक रूपसे परम अन्न कहा है; इसीलिये महाभाष्यादिमें भी **'अभोक्ष्यत भवान् मांसेन, यदि मत्समीपमासिष्यत'** (३।३।१३९) ।

इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं; इसलिये ऐसे रसनालौल्य वाले लोगोंकी जीभमें लगाम डालनेकेलिये कलियुग जैसे विलासी युगमें मुनियोंने रोक लगा दी और कह दिया कि-

ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन् यजेरँस्ते न तादृशाः ।

(शा.२।६३।३३)

अर्थात् ऐसे लोग ओषधियोंके यज्ञ अर्थात् पितृयज्ञ, देवयज्ञ अथवा अतिथियज्ञमें वे लोग ओषधियों अर्थात् वनके फलों-फूलों अथवा व्रीहि आदिका अथवा मुनियोंके अन्नोंका जिसकेलिये मनुजीने लिखा है-

आनन्त्याय च कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ।

(म.३।२७२)

इनमें मुन्यन्नोंको देव या पितरोंकी अनन्तकालकी तृप्ति करनेवाला बताया है, इसीका उपयोग करें । अतः इस 'अश्वालम्भं गवालम्भं' पद्यको आपाततः देखकर यह अनुमान लगाना कि- प्राचीन भारतमें गोवध होता था- यह अज्ञान या अल्पज्ञानका फल है । हाँ, गोमेध आदि व्रीहि पशुके वैदिक यज्ञ हुआ करते थे; पर कलियुगमें व्रीहिका गोयज्ञ करना भी परिणाममें अहितावह होनेसे त्यक्तव्य है- यह उसका आशय है, अतः इससे न तो आक्षिप्त पद्यकी अप्रमाणता ही है, न ही युगान्तरोंमें गोवधकी सिद्धि है और न ही हमारा वदतोव्याघात है, आशा है पाठकोंने इसमें सूक्ष्मता समझ ही लिया होगा ।

१९

गोशब्दके अर्थ तथा उपसंहार

जहाँ गोशब्द हननमें प्रयुक्त हो; वहाँ उसके 'अघ्न्या' होनेसे वह अन्य पशुका नाम होता है, यह हम कह चुके हैं। 'गो' शब्द दुग्धका भी नाम होता है; जहाँ गोकी या उसके अंगोंकी आहुति लिखी हो; वहाँ गौके अंग घृत-दुग्धकी आहुति इष्ट समझनी चाहिये; जैसे कि- इस विषयमें श्रीयास्कका प्रमाण तो हम दे ही चुके हैं। अब वेदान्तदर्शन (१।४।२) के शांकरभाष्यका वचन भी देखें। वहाँ लिखा है- **'प्रकृति-शब्दश्च विकारे दृष्टः'** प्रकृतिके विकार उससे भिन्न नहीं होते; तब उसके विकारोंको प्रकृतिके शब्दसे भी कहा जाता है, यथा- **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋ.९।४६।४) गोभिः- गायके विकार दूध आदियोंसे मत्सर-सोमरसको पकाओ'। इसलिये जहाँ गौका हवन लिखा हो, वहाँ गायके दूध-घृतका हवन समझना चाहिये। जैसे कि- महाभारतमें लिखा है- **'आज्येन पयसा दध्ना..... संभरत्येव गौर्मखम् (यज्ञम्)'**। (शान्ति.२६३।३८)

देखिये- रघुवंशमें नन्दिनी गौको **'होतुराहुतिसाधनम्'** (१।८२) होताकी आहुतिका साधन कहा है। **'धनमाहिताग्नेः'** (२।४४) यहाँ भी गायको हविका साधन कहा है। उसको वहीं **'होमधेनुः'**(२।८), **'मुनिहोमधेनुः'**(२।३६) भी कहा है, पर इससे उस गायको ही अग्निमें नहीं होमा जाता था, बल्कि **'हुतावशेषम्'**(२।६९) उसके दूधका ही हवन किया जाता था, इससे भी वह होमधेनु कही जाती थी। 'धेनु' शब्दमें ही **'हिवि-दिवि-धिवि-जिवि प्रीणनार्थाः'** तृप्तिवाचक 'धिवि' धातु है; तो यहाँ दूध-घीके कारण ही वह तृप्तिजनक होती है, यह स्पष्ट है। 'गो' शब्दसे तिल एवं ओदनका, अश्वसे चावलोंके कणोंका ग्रहण भी वेदानुसार कहा है-

'धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्'

(अ.१८।४।३२)

'अश्वाः कणाः, गावस्तण्डुलाः'

(अ.११।३।५)।

इसीलिये **'अन्नं हि गौः'** (शत.४।३।१।२५) यहाँ ओदनका नाम भी 'गौ' आया है। इस प्रकार महाभारतानुसार तण्डुल-आदियोंके यज्ञ ही गोयज्ञ सिद्ध हो जाते हैं। गो और वृषभ शब्द आयुर्वेदग्रन्थोंमें विशेष-ओषधियोंके नाममें भी आये हैं। योगशक्तिहीन पुरुषोंकेलिये उन्हीं ओषधियोंका हवन आया है, जैसे कि महाभारतमें कहा गया है-

ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन् यजेरंस्ते न तादृशाः।

(शा.२६३।३३)

नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा।
पूजा स्याद् देवतानां हि यथाशास्त्रनिदर्शनम्॥ (२।६३।८)

स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डीय वासुदेवमाहात्म्यमें आया है-

अहिंसैव परो धर्मस्तत्र वेदेऽस्ति कीर्त्तितः।
साक्षात्पशुवधो यज्ञे न हि वेदस्य सम्मतः॥ (६।४।४९)

स्कन्दुपराणके माहेश्वरखण्डमें भी आया है-

ब्रह्मणा तु पुरा सृष्टा ओषध्यः सर्ववीरुधः।
यज्ञार्थं तत्तु भूतानां भक्ष्यमित्येव वै श्रुतिः॥

निघण्टुरत्नाकरमें लिखा है-

उक्षा ऋषभश्च ओषधिविशेषः।
अष्टवर्गप्रकरणे ऋषभस्य गुणा एवं प्रकीर्तिताः-
ऋषभो मधुरः शीतः वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः॥

इससे सिद्ध होता है कि- उक्षा, ऋषभ, वृषभ, गौ' आदि गोपर्यायवाची-शब्द

जहाँ हों, वहाँ ऋषभक नामक ओषधि गृहीत होती है; उसके हवनसे भी गोयज्ञ पूर्ण होगा । अमरकोषमें **'कुरुविन्दो मेघनामा मुस्ता'** (२।४।१५९) ये नागरमोथाके नाम कहे गये हैं, जिनमें 'मेघनामा' नाम भी आया है । इसका भाव यह हुआ कि– जो मेघके नाम हैं, वे सब इस मोथाके नाम भी हो सकते हैं । इसी प्रकार वृषभके पर्यायवाचक 'अनडुह्–गो' शब्द आदि ऋषभक–ओषधिको बताते हैं । अत: जहाँ वृषभका पाक कहा हो; वहाँ ऋषभक–ओषधिको पकाना इष्ट होता है । जहाँ गो–पाक हो, वहाँ ऋषभकका, अथवा पूर्वप्रकारसे गोदुग्धका पाक अभिमत होता है । जहाँ वृषभका मांस कहा गया हो; वहाँ इस ऋषभकन्दका मांस–गूदा, सारभाग लेना चाहिये । जैसेकि– **'कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत्'** यहाँ कपित्थके सारभागको और **'खर्जूरमांसान्यथ नारिकेल'** यहाँ खजूरके सारभागको 'मांस' कहा गया है । तब मांसका अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध मांस न होकर, सारभाग या गूदा, अस्थिका अर्थ गुठली, मज्जाका अर्थ रेशा तथा रुधिरका केसर, वपाका बक्कलके भीतरकी झिल्ली, चर्मका अर्थ बक्कल या ऊपरी त्वचा यह अर्थ भी हो जाते हैं । मांसका अर्थ मांसल पदार्थ भी अर्श–आदियोंसे होनेवाले 'अच्' प्रत्ययसे माना जा सकता है । रामायणके शिरोमणिटीकाकारने **'मांसभूतौदनम्'** (२।५२।८९) का अर्थ लिखा है– **'मा-नास्ति अंशो-राजभागो यस्यां सा भूः-पृथ्वी च, उतं वस्त्रं च, ओदनं च एतेषां समाहारः, तेन त्वां यक्ष्ये'** ।

योगके ग्रन्थोंमें अन्य अर्थ भी आया है–

माशब्दाद् रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान् ।
सदा यो भक्षयेन्नूनं स भवेन्मांससाधकः ॥ (आगमसार)

माँ–लक्ष्मीका, अंस–भाग (**अंसः स्कन्धे विभागे स्यात्' इति हैमः**), अमरकोषकी भानुजीदीक्षितकी टीका (**२।६।७७**) यह भी मांसका अर्थ हो जाता है । मांस प्रजापतिस्मृति (**१५२-१५३**)के अनुसार माषका नाम भी होता है ।

मीमांसादर्शन-शाबरभाष्य (१।२।१०) में- **'अज इति अन्नं बीजं वीरुद् वा, तमालभ्य-उपयुज्य, प्रजाः-पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः'** माना है ।

महाभारतमें कहा है **'अजसंज्ञानि बीजानि'** (१२।३३७।४)

अतः कई लोगोंका यह कहना ठीक नहीं कि गो शब्द ओषधिका नाम नहीं । इसीलिये कहा है **'धान्यैर्यष्टव्यमित्येव'** (महा.शा.३३७।१२) ।

हमारे हिन्दुधर्ममें गायकी बड़ी पूजा आयी है, यहाँ तक कि- किसीका खेत भी खा रही हो; तो उसे कहनेकेलिये मनाही की गयी है, देखिये सुश्रुतसंहिता (चिकि. २४।९२), गौतमधर्मसूत्र(१९।३४), मनु.(४।४९), याज्ञ.स्मृति(१।६।१४०), वैखानस-धर्मसूत्र(३।२।१५) आदिमें गायको पैरसे छूनेका भी निषेध किया गया है- देखो मीमांसादर्शन शाबरभाष्य (७।१।२), यही बात अथर्ववेदमें भी कही गयी है- (१३।१।५६) **'स्वस्ति गोभ्यः'** (अथ.१।३१।४) यहाँ गौओंका कल्याण माँगा गया है । **'पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नियच्छतु'**(अथ.१९।३१।८) यहाँ गौओंकी वृद्धि माँगी गयी है । **'अहं गोपतिः स्याम्'** (सामवेद-उत्तरार्चिक२०।७।१।२) यहाँ गौओंको अपने संरक्षणमें माँगा गया है । **'महाँस्त्वेव गोर्महिमा'** (शत.३।३।३।१), **'गोस्तु मात्रा न विद्यते'** (यजु.वा.सं.२३।४८) यहाँ गौओंकी अपार महिमा कही गयी है । **'आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे'** (ऋ.६।२८।१) यहाँ गौओंका अपने घरमें, अपनी गौशालामें आना तथा उनसे अपना शुभ माँगा गया है । **'गावो भगो गावऽइन्द्रो मे अच्छान्'** (ऋ.स. ६।२८।५) यहाँ गोधन माँगा गया है । **'मा वः (गाः) स्तेन ईशत मा अघशंसः'** (यजु.१।१) यहाँ गौओंका चोर तथा अनिष्टचिन्तक समर्थ न हो सके- यह प्रार्थित किया गया है । इतना या इससे बढ़कर वेदादि सभी शास्त्रोंमें गौओंका शुभ कहा गया है, परन्तु आजकलके नौसिखिये गोपूजाको सबसे बड़ा देशद्रोह मानते हैं और उसके अघशंस (अनिष्टेच्छुक) बनते जा रहे हैं । प्राचीनकालमें इसी गायको भारतीय जनमानस असत्य बोलकर भी वधिकसे बचा लिया करता था, वही आज-कलके शासकोंके

चाटुकार गायके वधिक बनते जा रहे हैं। इसीके पञ्चगव्यसे हमारी शुद्धि होती थी, बहुतसे रोग हटते थे। इसीके पञ्चामृतसे हमारे व्रत पूर्ण होते थे, इसीका दान वैतरणी-तारक माना जाता था। इसीके घृतकेलिये **'आयुर्वै घृतम्'**(कृ.यजु.तै.सं. **२।३।२।२**) यह वैदिकनाद हमारे भारतमें फैला था, इसी गायके ही दधि, घृत, नवनीतादिका मधुके साथ मधुपर्क बनता था। हमारे कुलोंको व्यवस्थित करनेवाला 'गोत्र' शब्द गोके त्राण (रक्षण) करनेसे ही बना है। 'गोपायति'का 'रक्षण' अर्थ भी 'गोरक्षण'से बना है। अनुसन्धान अर्थ को बतानेवाला 'गवेषणा' शब्द भी गायकी एषणासे ही बना है। इन्हीं गौओंकी रक्षा करनेमें भगवान् श्रीकृष्णने 'गोप' बननेमें भी गौरव माना। गौओंके छिपकर विनाश करनेमें लगे दैत्योंका भी संहार कर डाला, गोवर्धन पूजामें विघ्न डालनेवाले इन्द्रको भी इस प्रकार सीधा किया कि- वह चरणोंपर आ गिरा। गौओंको केवल परीक्षार्थ छिपानेवाले ब्रह्माको भी इस प्रकारका पाठ पढ़ाया कि- वह भी क्षमा माँगने आया। इसी गायके प्रतिपादक-

'हिं कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्या इयं सा वर्द्धतां महते सौभगाय ॥'

(ऋ.सं. १।१६४।२७)

इस वेद मन्त्रके पूर्वार्धके आदि अक्षर 'हिं' और उत्तरार्धके आदि अक्षर 'दु'को लेकर हमारी जाति 'हिंदु' कहलायी। इसीके नामसे हमारी धारक पृथ्वी भी गौ कहलायी, हमारा पोषक गेहूँ भी इसीके नामसे ही 'गोधूम' प्रसिद्ध हुआ। मीठी दाख भी 'गोस्तनी' नामसे प्रसिद्ध हुआ। पहाड़ भी इसकी रक्षा करनेसे इसीके नामसे 'गोत्र' कहलाये। हमें सभ्य बनाने वाली सभा या बातचीत भी इसीके नामसे 'गोष्ठी' बनी। हमारे लक्ष्यका नाम भी 'गोचर' (विषय) बना। इसी गायकी रक्षकताके ही नातेसे ब्राह्मणोंमें 'गोस्वामी' अपनेको अधिक आदरका पात्र समझते हैं। इसीके नामसे भगवान्ने अपना नाम 'गोविन्द' रखा। इसी सुखदायिनीके नामसे स्वर्गने भी 'गो' नाम पाया। हमें लोक-व्यवहारमें लानेवाली वाक् भी इसीके नाम

से गौ कहलायी । इसी रक्षिकाके नामसे हमारा रक्षक सूर्य भी 'गो' नामसे प्रसिद्ध हुआ **'आदित्योऽपि गौरित्युच्यते'** (निरुक्त) और हमारे आश्रय पृथिवी, जल आदि भी 'गौ' कहलाये ।

जो गाय हमारे मृतक-पितरका पहला श्राद्ध खाती है- जो मृतकके उद्देश्यसे दान किये जानेपर उसे वैतरणी-पार पहुँचाती है- देखिये इसपर वेद **'यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम्'** (अथ.१८।२।३०), जिसकी खीर श्राद्धमें पितरोंके नामसे हम खिलाते हैं, जिसे **'अमृतं क्षीर-भोजनम्'** अमृत एवं परमान्न माना गया है, ऐसी उस घृतकी देवी, हमारी आयु और आरोग्यकी देवता हमारे बाल-बच्चोंको पालनेवाली, हमसे बड़े-बड़े ग्रन्थ या निबन्ध लिखवानेवाली, हमसे बड़े-बड़े प्रवचन करवानेवाली, हमें सब मिठाईयाँ खिलानेवाली, हमें सब अन्न और वस्त्र देनेवाली, हमारे ईंधन का खर्च चलानेवाली, उपलेकी भस्म दिलवाकर हमारे उच्छिष्ट-पात्रोंको शुद्ध करनेवाली, हमारे मस्तिष्कको सुरक्षित रखनेवाली, तैंतीस करोड़ देवताओंकी आश्रयस्थली, यज्ञकी नेत्री- **'गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्'** (महा.अनु.५१।२९) है । ऐसी गोमाताकी असहायावस्थामें छुरेकी भेंट चढ़ानेकेलिये गोवधशाला खोलना या खुलवाना यह कई नामधारी हिन्दुओंका अथवा शासकोंका जघन्य अपराध है, यह बड़ी भारी कृतघ्नता है । यह हिन्दुत्वको नष्ट करनेका कंस आदि दैत्योंके मस्तिष्कसे उर्वरित गहरा षड्यन्त्र है । जिस गायको वेदने **'अमृतस्य नाभिः'** (अथ.८।१०१।१५) 'अमृतका केन्द्र' कहा, जिसका नाम वेदने अघ्न्य और अघ्न्या, अदिति (अखण्डनीया) और अही (अहन्तव्या) खुले शब्दोंमें रखा, अहिन्दुओंके पर्वोंमें जिसके वधको सुनकर आज भी हिन्दु अपने प्राण देनेकेलिये तैयार हो जाता है, जिस गायके वधसे शास्त्रोंमें पाप (मनु. **११।५९**) तथा विविध कठोर प्रायश्चित्त (मनु. **११।१०८-११६**) कहे गये हैं; उसी गोमाताका वध किसी भी वेद, स्मृति, पुराण अथवा यथार्थवादी भारतीय इतिहासमें क्या कभी भी नहीं मिल सकता है? जहाँ कोई उसका आभास दीखे, वहाँ उसकी हमारे पूर्वोक्त

समाधानपद्धतिसे व्यवस्था कर लेनी चाहिये । 'गो' शब्द अनेकार्थक (पशुसामान्यका वाचक) भी होता है ।

(ऋ. १।१२४।११)में सायणने 'गवाम्'का अर्थ 'अश्वानाम्' किया है । अत: योग्य अर्थ ले लेना चाहिये ।

यदि यज्ञमें गोवध प्राचीनकालमें होता; तो आज भी याज्ञिक हिन्दुओंके किसी वर्ग या सम्प्रदायमें उसकी सत्ता दीखती; पर ऐसा नहीं दीखता; अत: स्पष्ट है कि- पूर्वकालमें कई गोयज्ञोंमें 'पशुसामान्य' ही इष्ट था । (ऋ. १।१२।११) में यद्यपि पशुसामान्यमें गाय-बैल भी गृहीत हो सकते हैं; तथापि वेदमें उन्हें 'अघ्न्या' और अघ्न्य' तथा 'माता-पिता' कहनेसे उसका वध कभी नहीं हो सकता-

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥

(महा.शा. २६२।४७)

इससे स्पष्ट है कि गोमांसभक्षण और यज्ञोंमें गोवध हिन्दुओंमें प्राचीनकालमें कभी नहीं रहा । तब जो यह कहते हैं कि- 'प्राचीन भारतमें गोवध प्रचलित था । उनका यह कथन भ्रमपूर्ण एवं प्रवञ्चनापूर्ण है । वे लोग जो जो इस विषयमें प्रमाण देते हैं; उन सबका प्राय: हमने पहले ही शास्त्रीयदृष्टि तथा उपपत्तियोंसे समाधान कर दिया है, सहृदय पाठकगण इसका प्रचार-प्रसार करके भूले-भटकोंको मार्गप्रदर्शन देकर स्वयं भी श्रेयका भागी बनें ।

गायकी प्रत्यक्ष विशेषता

शास्त्रीय-दृष्टिको न रखकर केवल लौकिक-दृष्टि रखी जाय; तब भी गायकी विशेषता सिद्ध होती है । गायके दूधसे पुरुष सात्त्विक-गुणसम्पन्न, अधिक बलवान्, स्वस्थ और दीर्घजीवी होता है । इसका सतत सेवन करनेवाला प्राय: बीमारीसे ग्रस्त नहीं होता । जो अपने बच्चोंको बीमार नहीं करना चाहते; वे उन्हें गायका दूध ही पिलाये । भैंसके दूधसे बच्चे बीमार हो जाते है । पुरुषोंकी मानसिक स्फूर्ति मारी जाती है, इससे आलस्य और शारीरिक आरामकी इच्छा तथा तमोगुणकी बहुलता बढ़ती है । उससे बच्चोंको जिगरका रोग और अँतड़ियोंके रोग हो जाते हैं । गायका दही भी पुरुषकी शक्तिको बढ़ाता है । शारीरकशास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आँतोंमें विष उत्पन्न करनेवाले असंख्य कीटाणु भरे रहते हैं । वे कीटाणु दहीके प्रयोगसे मर जाते है; इससे उनका विष भी शरीरसे बाहर निकल जाता है और पुरुषकी आयु लम्बी हो जाती है । हमारे पूर्वज बड़े बलवान्, दीर्घकाय तथा दीर्घजीवी होते थे; उसका कारण गायकी छाछका सेवन भी है । आजकल लोग स्वादके लिए सख्तसे सख्त वस्तु खा लेते हैं, उसे पचानेकी चिन्ता नहीं रहती । पर हरेक खाद्यपदार्थको पचानेकेलिए मीठी छाछसे उत्तम और कोई चीज नहीं है । वर्षा ऋतुको छोड़कर शेष समयमें उसका सेवन करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी स्वस्थ और बलवान् बन सकता है, बुढापा भी दूर रहता है, क्योंकि- छाछमें शरीरके पोषक तत्त्व प्रचुरमात्रामें विद्यमान हैं । इससे शरीरस्थित विषैले कीड़े नष्ट हो जाते हैं; शरीरके पट्ठे पुष्ट होते हैं । बाल भी जल्दी सफेद नहीं होते हैं । इसीके दूधमें धारणाशक्ति तीव्र बनती है और टिकी रहती है ।

गायका बच्चा जब उत्पन्न होता है तब माँका दूध पीकर खूब कूदता-फाँदता है, भैंसके बच्चेको श्रमपूर्वक उठाया जाता है । उसमें फुर्ती नहीं हो पाती । देखनेमें

भी भयानक मालूम देता है । गायके बछड़ेको देखकर मन प्रसन्न हो जाता है । इस प्रकार गायके दूध पीनेवाले भी सात्त्विक, सुन्दर तथा स्फूर्तिमान् रहते हैं । भैंसके दूध पीनेवाले आलसी, मन्दबुद्धि, तामसिक, स्फूर्तिरहित, प्रायः रोगी रहनेवाले, सुस्त, गन्दे विचारोंवाले और विषयी होते हैं । भैंसका बच्चा मर जाय तब भी उस मरे हुएमें भूसा डालकर भैंसके आगे रख देते हैं और वह निर्बुद्धि उसे अपना बच्चा समझकर दूध दे देती है, पर गाय इन बातोंमें आनेवाली नहीं होती; वह समझदार होती है, अतः इस मौके पर दूध नहीं उतारती । इस प्रकार भैंसका दूध भी ज्ञानका ह्रास करनेवाला यानी बुद्धिको मोटा कर देनेवाला होता है, उसमें नयी सूझ-बूझ एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाकी स्फूर्ति नहीं होती, पर गायका दूध इन बातोंका अपवाद है, ज्ञानवर्धक, प्रतिभोत्पादक तथा सौन्दर्यवर्धक भी है । गाय अपनी मुलायम रंगविरंगी त्वचा द्वारा सूर्यरश्मियोंसे बलवान् प्राणतत्त्वोंका आकर्षण करके अमृतमय दूध देती है, इनमें पोषकतत्त्व (विटामिन) पर्याप्त मात्रामें है । भैंसके दूधमें पोषकतत्त्व बहुत कम है । गर्मीमें भैंसको जबतक पूरा स्नान न कराया जाय; तबतक उसके दूधमें बहुत ऊष्मा बनी रहती है; क्योंकि- भैंस आधा जमीनका तथा आधा पानीका प्राणी है, जो कि हानि देनेवाला है और जबतक उसे भारी खुराक न मिले तबतक वह दूध देनेवाली भी नहीं होती; पर गायकेलिये इन बातोंकी कोई आवश्यकता नहीं है । एक भैंसके चारेमें चार-पाँच गौओंका पालन हो सकता है । वह हमारा स्थलचर प्राणी है । यही कारण था कि- हमारे पूर्वजोंने गोसेवाव्रतको धारण किया था । हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने ऐसे साधन बनाये हुए थे, जिनके कारण यहाँकी गौएँ सुगन्धित घी-दूध देती थीं, उनका स्वाद भी उत्तम होता था । वे गायको ऐसा भोजन खिलाते थे, जिससे उसके दूधमें विशेष प्रकारका स्वाद उत्पन्न होता था, उसके सेवनसे मनुष्यों की स्मरणशक्ति भी बढ़ती थी, विशेष प्रकारके रोग भी दूर होते थे । तब ऐसी गायको जिसको कि वेदोंमें 'अघ्न्या'का पद प्रदान किया है । यह सभी दृष्टियोंसे ठीक है ।

(२१)

(यजुर्वेदके गोपरक मन्त्रका स्त्रीपरक अर्थ करना गलत)

अब हम गायके एक मन्त्रपर विचार करते हैं जिसका किसी महाशयने स्त्रीपरक अर्थ लगाया था, उसका शास्त्रीय स्वरूप देखें। उसने **'इडे ! रन्ते ! सरस्वति ! महि ! विश्रुति !'** (यजु.८।४३) इस मन्त्रमें 'पत्नी देवता' दिखलाकर 'सरस्वती'का 'विदुषी स्त्री' वाचक अर्थ लिखता है। पर उसको मालूम होना चाहिये कि कई वैदिकयन्त्रालयोंके छपे हुए मूलवैदिकसंहिताओंमें बहुत स्थानों पर 'देवता' आदि अशुद्ध छपे हुए हैं। वे सर्वानुक्रमणिका, बृहद्देवता आदिसे विरुद्ध हैं। प्रकृतमें यजु:८।४२-४३ मन्त्रोंका देवता- पत्नी उसमें गलत छपा है, अत: तदनुसारी वैदिकम्मन्यका किया हुआ अर्थ भी गलत है। उसीसे बचनेकेलिये उसने 'इडे रन्ते' मन्त्रका उत्तरार्ध छिपा लिया, उसे जानबूझ कर नहीं लिखा। जैसे कि उन सबोंकी सदा की दुष्प्रकृति रही है। इस प्रकारके उसके अनेकों उदाहरण हम अपने निबन्धोंमें दिखला चुके हैं। देखिये वह छिपाया हुआ उत्तरार्ध **'एता ते अघ्न्ये! नामानि'** यहाँ 'अघ्न्या' विशेष्य है। सो 'अघ्न्या'को कहा जा रहा है कि- हे अघ्न्ये ! तेरे इडा, रन्ता, अदिति, सरस्वती, मही आदि नाम प्रसिद्ध हैं। 'अघ्न्या'से वेदमें गाय ली जाती है। इसीलिये 'वैदिकनिघण्टु' (२।११)में अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदिति, इडा, जगती, शक्वरी' यह नौ गायके नाम हैं। तब उक्त मन्त्रमें 'गाय'का वर्णन सिद्ध हुआ, पत्नीका नहीं। पत्नीके ये नाम कहीं नहीं आये हैं।

उक्त मन्त्रमें गायके निघण्टुसे रन्ता, सरस्वती, विश्रुती ये नाम आये हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता के **'कृण्वन्तो विश्वआर्यम्'** का अर्थ उन्होंने यह किया है कि सम्पूर्ण विश्व को आर्यसमाज बनाओ, परन्तु प्रसंग के अनुसार वहाँ यह अर्थ है कि 'सभी यज्ञीय सभार को पवित्र करते हुए' आगे का यज्ञकार्य करो।

इनमें विशेष्य 'अघ्न्या' है । 'सरस्वती' आदि विशेषण हैं । विशेषण सदा यौगिक हुआ करता है । तो 'सरस्वती' भी यहाँ विशेषण होनेसे 'यौगिक' हुआ । **'सरः'** (निघण्टु १।१२) यह जलका नाम है । तद्वती । यहाँ **'तसौ मत्वर्थे'** (पा. १।४।१९)से 'भ' संज्ञा होनेसे 'स'को 'रु' नहीं हुआ । तब वहाँ पर 'सरस्वती'का 'क्षीरवती'का ही भाव है । तब महाशयका अर्थ निघण्टु तथा वेदानुसार भी खण्डित हो गया । 'सर्वानुक्रमसूत्र'में भी स्पष्ट लिखा है- **'आजिघ्र'** (यजुः. ८।४२), **'इडे'**,(यजुः. ८।४३) **कुसुरुविन्दः, गव्ये, महापङ्क्ति-प्रस्तारपङ्क्ती'** (१।३२) अर्थात् 'आजिघ्र', और 'इडे रन्ते' इन दो मन्त्रोंका ऋषि कुसुरुविन्द है, देवता गौ है । 'गव्ये' शब्द यहाँ स्पष्ट है **'गोपयसोर्यत्'**(पा.४।३।१६०) यह द्विवचनान्त उक्त दो मन्त्रोंकेलिये है । पंक्ति-विशेष छन्द है । तब यहाँ वादीकी 'पत्नी' कहाँ गयी? यहाँ तो 'गौ देवता' आ उपस्थित हुई । इधर वेदमें गायको सर्वदेवात्मक माना गया है । **'वैश्वदेवी वै गौः, यद् गां ददाति, विश्वेषामेतद् देवानां तेन प्रियं धाम उपैति'** (अथर्व. गोपथब्राह्मण २।३।१९) (गाय सर्वदेवात्मक है । जो गायका दान करता है, उससे पुरुष सब देवताओंके प्रिय धामको प्राप्त करता है) **'एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्'** (अथर्व.शौ.सं ९।७,१।२५) (गाय सब देवताओंका रूप है) तब गायका नाम सरस्वती देवताके नामसे भी बोला जा सकता है, तब उक्त मन्त्रमें मनुष्य स्त्रीका वर्णन सिद्ध नहीं हुआ ।

अन्तमें हम-

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नोऽअस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नोऽअस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥

(अथर्व. १।३१।४)

हमारी माता तथा पिताके लिये कल्याण हो । संसारमें गायों तथा मानवोंका कल्याण हो, हमारेलिये सब प्रकारका सुन्दर ऐश्वर्य तथा उत्तम ज्ञान प्राप्त हो ।

सूर्यको हम बहुत काल तक देखते रहें । इस वैदिकनादको गुंजाकर इस विषयको यही समाप्त करते हैं । हम प्रतिक्षा करें 'अहं गोपति स्याम्' । मैं गोवंश का रक्षक बनूँ।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥

शुभमिति दिक्